

ॐ

नमः सिद्धेय्यः

स्वतन्त्रता की घोषणा

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
विशिष्ट प्रवचनों का सङ्कलन

हिन्दी अनुवाद एवं सञ्जादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशन सहयोग :
श्री राजेन्द्रभान बरौलिया परिवार
आगरा, उत्तरप्रदेश

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ

तृतीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ

18 जुलाई 2010 अष्टाह्निका महापर्व के पावन अवसर पर

ISBN NO. :

न्यौछावर राशि : 18.00 रुपये मात्र

AVAILABLE AT -

- **TEERTHDHAMMANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com
- **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)
- **SHRI HITENA. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com
- **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :

मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के वस्तु परिणमन की स्वतन्त्रता के दिग्दर्शक मङ्गल प्रवचनों का अद्भुत सङ्कलन **स्वतन्त्रता की घोषणा** सद्धर्म प्रेमी साधर्मिजनों को समर्पित करते हुए, हमे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस प्रवचन ग्रन्थ में पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की स्वतन्त्रता को दर्शाते हुए निमित्त की अकिञ्चित्करण का विशद् प्रतिपादन जिनागम के आलोक में किया है। मध्यस्थभाव से निमित्त-उपादान की यह व्यवस्था समझने से जीव, निमित्ताधीन दृष्टि का परित्याग करके स्वावलम्बी पुरुषार्थ को जागृत कर सकता है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया ? क्या नहीं छोड़ा ? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में

प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ '**स्वतन्त्रता की घोषणा**' प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत प्रवचनों का सङ्कलन मूल में भूल, श्रावकधर्म प्रकाश परिशिष्ट एवं आत्मधर्म के प्राचीन अङ्कों से किया गया है। तदर्थ हम उक्त ग्रन्थों के सङ्कलक एवं सम्पादकों का आभार व्यक्त करते हैं। इस ग्रन्थ में समाहित प्रवचनों का सुव्यवस्थित सम्पादन कार्य **मङ्गलायतन** के विद्वान् पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलिया द्वारा सम्पन्न किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें प्रकाशनकर्ता के रूप में **श्री राजेन्द्रभान बरौलिया परिवार, आगरा** का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें - यही भावना है।

पवन जैन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सम्पादकीय

परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूर्ण मङ्गल प्रवचनों का सङ्कलन '**स्वतन्त्रता की घोषणा**' सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में प्रत्येक द्रव्य के परिणामन की स्वतन्त्रता के अद्भुत रहस्य का प्रतिपादन किया है। कार्य की उत्पादन सामग्री के रूप में निमित्तोपादानरूप कारणों की स्वतन्त्रता, कार्य के नियामक कारणरूप तत्समय की योग्यता, कार्य की उत्पत्ति में सभी निमित्तों का स्थान धर्मास्तिकायवत् होना इत्यादि का विशद् विवेचन किया है।

यह तो सर्व विदित है कि पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने पैंतालीस वर्षीय आध्यात्मिक जीवन में जिन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनमें से क्रमबद्धपर्याय और निमित्तोपादान की स्वतन्त्रता सर्वाधिक चर्चित रहे हैं। आज सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में इन विषयों की गहरी तत्त्वचर्चा का एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को ही जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सङ्कलित प्रवचन मूल में भूल, श्रावकधर्म प्रकाश परिशिष्ट, कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन एवं आत्मधर्म के प्राचीन अङ्कों से सङ्कलित किये गये हैं। तदर्थ उक्त ग्रन्थों के सङ्कलनकार एवं सम्पादकों का हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इन प्रवचनों के सम्पादन में जो-जो कार्य किया गया है, वह इस प्रकार है -

- सम्पूर्ण प्रवचनों को गुजराती के साथ अनुवाद की दृष्टि से मिलाकर, आवश्यक संशोधन किये गये हैं।
- लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है।
- भाषा को सरल-प्रवाहमयी बनाने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत मेरे विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी, अलीगढ़ हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर, मुझे तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरे जीवनशिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य का अवसर प्रदान करने हेतु **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थीजन गुरुदेवश्री की इस महा मङ्गलवाणी का अवगाहन करके अनन्त सुखी हों - इस पावन भावना के साथ।

तीर्थधाम मङ्गलायतन

देवेन्द्रकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

स्वतन्त्रता की घोषणा	1
उपादान-निमित्त संवाद	27
उपादान की योग्यता	140
स्वाधीनता का मार्ग	145
एक ही समाधान : योग्यतावाद	158
उपादान विधि निर्वचन	172
ज्ञान की स्वाधीनता और	181
निमित्त का अकिञ्चित्करण	
परिशिष्ट-लेख	
प्रत्येक समय का स्वतन्त्र उपादान	190

तीर्थधाम मङ्गलायतन ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक -

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द्र पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातृश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10) श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द्र जैन चन्द्रकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द्र बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दवाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द्र शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (21) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (22) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (23) श्रीमती त्रिशलादेवी वीरेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (24) श्रीमती कोकिलाबेन शाह c/o श्री प्रवीण शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (25) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई।

संरक्षक -

(1) अहिंसा चैरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द्र छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द्र छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द्र जैन, धेवरचन्द्र जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातृश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर।

परम सहायक -

(1) पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द्र अक्षयकुमार

बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द्र जैन, सूरत।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्गाफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द्र संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्गाफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द्र जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द्र गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेंद्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग।



परमात्मने नमः

स्वतन्त्रता की घोषणा

कर्ता-कर्म सम्बन्धी भेदज्ञान कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है; अन्य के साथ उसका कर्ता-कर्म का सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को आचार्यदेव ने समयसार कलश - 211 में इस प्रकार समझाया है -

(नर्दटक छन्द)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ 211 ॥

अर्थात्, वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है; अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं; अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता) और कर्म, कर्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु

द्रव्य-पर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व, बाधासहित है); इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है।

(इस कलश में स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्रतिपादित करनेवाले चार बोल इस प्रकार हैं -)

(1) परिणाम; अर्थात्, पर्याय ही कर्म; अर्थात्, कार्य है।

(2) परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं होते, क्योंकि परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत परिणामी (द्रव्य) के आश्रय से होते हैं; अन्य का परिणाम अन्य के आश्रय से नहीं होता।

(3) कर्ता के बिना कर्म नहीं होता; अर्थात्, परिणाम, वस्तु के बिना नहीं होता।

(4) वस्तु की निरन्तर एक समान स्थिति नहीं रहती, क्योंकि वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है।

इस प्रकार आत्मा और जड़ सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने परिणामस्वरूप कर्म की कर्ता हैं - ऐसा वस्तुस्वरूप का महान् सिद्धान्त आचार्यदेव ने समझाया है।

देखो! इसमें वस्तुस्वरूप को चार बोलों द्वारा समझाया है। इस जगत् में छह वस्तुएँ हैं - आत्मा, अनन्त; पुद्गलपरमाणु अनन्तानन्त; धर्म, अधर्म व आकाश, एक-एक और काल, असंख्यात। इन छहों प्रकार की वस्तुओं और उनके स्वरूप का वास्तविक नियम क्या है? सिद्धान्त क्या है? उसे यहाँ चार बोलों में समझाया जा रहा है।

(1) परिणाम ही कर्म है।

'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः'; अर्थात्,

परिणामी वस्तु का जो परिणाम है, वही निश्चय से उसका कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य; परिणाम अर्थात् अवस्था। पदार्थ की अवस्था ही वास्तव में उसका कर्म / कार्य है। परिणामी अर्थात् अखण्ड वस्तु; वह जिस भाव से परिणामन करे, उस भाव को परिणाम कहते हैं। परिणाम कहो, कार्य कहो, पर्याय कहो या कर्म कहो - ये सब शब्द वस्तु के परिणाम के पर्यायवाची ही हैं।

जैसे कि आत्मा ज्ञानगुणस्वरूप है; उसका परिणामन होने से जो जानने की पर्याय हुई, वह उसका कर्म है - वर्तमान कर्म है। राग या शरीर, वह कोई ज्ञान का कार्य नहीं, परन्तु 'यह राग है, यह शरीर है' - ऐसा उन्हें जाननेवाला जो ज्ञान है, वह आत्मा का कार्य है। आत्मा के परिणाम, वह आत्मा का कार्य है और जड़ के परिणाम; अर्थात्, जड़ की अवस्था, वह जड़ का कार्य है। इस प्रकार एक बोल पूर्ण हुआ।

(2) परिणाम, वस्तु का ही होता है, दूसरे का नहीं।

अब, इस दूसरे बोल में कहते हैं कि जो परिणाम होता है, वह परिणामी पदार्थ का ही होता है; वह किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता। जिस प्रकार सुनते समय जो ज्ञान होता है, वह कार्य है - कर्म है। यह ज्ञान, किस का कार्य है? वह ज्ञान, शब्दों का कार्य नहीं है परन्तु परिणामी वस्तु जो आत्मा है, उसी का वह कार्य है। परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता।

आत्मा, परिणामी है, उसके बिना ज्ञानपरिणाम नहीं होता - यह सिद्धान्त है परन्तु वाणी के बिना ज्ञान नहीं होता - यह बात सत्य नहीं है। शब्दों के बिना ज्ञान नहीं होता - ऐसा नहीं, परन्तु

आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता – ऐसा है। इस प्रकार परिणामी आत्मा के आश्रय से ही ज्ञानादि परिणाम हैं।

देखो! यह महासिद्धान्त है, वस्तुस्वरूप का अबाधित नियम है।

परिणामी के आश्रय से ही उसके परिणाम होते हैं। जाननेवाला आत्मा, वह परिणामी है, उसके आश्रित ही ज्ञान होता है; वे ज्ञानपरिणाम आत्मा के हैं, वाणी के नहीं। ज्ञानपरिणाम, वाणी के रजकणों के आश्रित नहीं होते, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तु के आश्रय से होते हैं। आत्मा, त्रिकाल स्थित रहनेवाला परिणामी है, वह स्वयं रूपान्तरित होकर नवीन-नवीन अवस्थाओं को धारण करता है। ज्ञान-आनन्द इत्यादि जो उसके वर्तमानभाव हैं, वे उसके परिणाम हैं।

परिणाम, परिणामी के ही हैं; अन्य के नहीं – इसमें जगत् के सभी पदार्थों का नियम आ जाता है। परिणाम, परिणामी के ही आश्रित होते हैं। ज्ञानपरिणाम, आत्मा के आश्रित हैं, भाषा आदि के आश्रित नहीं हैं; इसलिए इसमें पर की ओर देखना नहीं रहता, परन्तु अपनी –अपनी वस्तु के सामने देखकर स्वसन्मुख परिणामन करना रहता है, उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वाणी तो अनन्त जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह अपने जड़ परमाणुओं के आश्रित है। बोलने की जो इच्छा हुई, उस इच्छा के आश्रित भाषा के परिणाम तीन काल में भी नहीं हैं। जब इच्छा हुई और भाषा निकली, उस समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही हुआ है; भाषा के आश्रय से तथा इच्छा के आश्रय से ज्ञान नहीं हुआ है।

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के आश्रय से ही होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते। इस प्रकार यहाँ अस्ति-नास्ति से

अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप समझाया है। यह बात सत्य के सिद्धान्त की; अर्थात्, वस्तु के सत्स्वरूप की है। अज्ञानी इस बात को पहिचाने बिना मूढ़तापूर्वक अज्ञानता में ही जीवन पूर्ण कर डालता है।

भाई! आत्मा क्या है और जड़ क्या है? – इनकी भिन्नता समझकर वस्तुस्वरूप के वास्तविक सत् को समझे बिना ज्ञान में सत्पना नहीं आता; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान नहीं होता; वस्तुस्वरूप के सत्यज्ञान के बिना सच्ची रुचि और श्रद्धा भी नहीं होती और सच्ची श्रद्धा के बिना वस्तु में स्थिरतारूप चारित्र प्रगट नहीं होता, शान्ति नहीं होती, समाधान और सुख नहीं होता; इसलिए वस्तु क्या है? उसे प्रथम समझना चाहिए। वस्तुस्वरूप को समझने से मेरे परिणाम पर से और पर के परिणाम मुझ से होते हैं – ऐसी पराश्रितबुद्धि नहीं रहती; अर्थात्, स्वाश्रित स्वसन्मुख परिणाम प्रगट होता है, यही धर्म है।

आत्मा का जो ज्ञान होता है, उसको जाननेवाला परिणाम, आत्मा के आश्रित है; वह परिणाम, वाणी के आश्रय से नहीं होता है, कान के आश्रय से नहीं होता है तथा उस समय की इच्छा के आश्रय से भी नहीं होता है। यद्यपि इच्छा भी आत्मा का परिणाम है परन्तु उस इच्छापरिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं है; ज्ञानपरिणाम, आत्मवस्तु के आश्रित है; इसलिए वस्तु के सन्मुख दृष्टि कर।

बोलने की इच्छा हो, होंठ हिलें, भाषा निकले और उस समय उस प्रकार का ज्ञान हो – ऐसी चारों क्रियाएँ एक साथ होते हुए भी कोई क्रिया किसी के आश्रित नहीं है; सभी अपने-अपने परिणामी द्रव्य के ही आश्रित हैं। जो इच्छा है, वह आत्मा के चारित्रगुण का

परिणाम है। होंठ हिले, वह होंठ के रजकणों की अवस्था है; वह अवस्था इच्छा के आधार से नहीं हुई। भाषा प्रगट हो, वह भाषावर्गणा के रजकणों की अवस्था है; वह अवस्था इच्छा के आश्रित या होंठ के आश्रित नहीं हुई, परन्तु परिणामीरूप रजकणों के आश्रय से उत्पन्न हुई और उस समय का ज्ञान, आत्मवस्तु के आश्रित है; इच्छा अथवा भाषा के आश्रित नहीं है – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

भाई! तीन काल-तीन लोक में सर्वज्ञ भगवान का देखा हुआ यह वस्तुस्वभाव है; अज्ञानी उसे जाने बिना और समझने की परवाह किये बिना अन्धे की भाँति चला जाता है परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान के बिना किसी प्रकार कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता। इस वस्तुस्वरूप को बारम्बार लक्ष्य लेकर परिणामों से भेदज्ञान करने के लिए यह बात है। एक वस्तु के परिणाम, अन्य वस्तु के आश्रित तो हैं नहीं, परन्तु उस वस्तु में भी उसके एक परिणाम के आश्रित दूसरे परिणाम नहीं हैं। परिणामी वस्तु के आश्रित ही परिणाम हैं – यह महान् सिद्धान्त है।

प्रतिक्षण इच्छा, भाषा और ज्ञान – यह तीनों एक साथ होते हुए भी इच्छा और ज्ञान, जीव के आश्रित हैं और भाषा, जड़ के आश्रित हैं; इच्छा के कारण भाषा हुई और भाषा के कारण ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित भी ज्ञान नहीं है। इच्छा और ज्ञान – ये दोनों आत्मा के परिणाम हैं, तथापि एक के आश्रित दूसरे के परिणाम नहीं हैं। ज्ञानपरिणाम और इच्छापरिणाम दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जो ज्ञान हुआ, वह इच्छा का कार्य नहीं है और जो इच्छा हुई, वह ज्ञान का कार्य नहीं है। जहाँ इच्छा भी ज्ञान का कार्य नहीं,

वहाँ जड़ भाषा आदि तो ज्ञान के कार्य कहाँ से हो सकते हैं? वे तो जड़ के ही कार्य हैं।

जगत् में जो भी कार्य होते हैं, वे सत् की अवस्थाएँ हैं। किसी वस्तु के ही परिणाम होते हैं परन्तु वस्तु के बिना अधर से नहीं होते। परिणामी का परिणाम होता है, नित्य स्थित वस्तु के आश्रित परिणाम होते हैं; पर के आश्रित नहीं होते।

परमाणु में होंठों का हिलना और भाषा का परिणमन – ये दोनों भी भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्मा में इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं।

होंठ हिलने के आश्रित, भाषा की पर्याय नहीं है। होंठ का हिलना, वह होंठ के पुद्गलों के आश्रित है; भाषा का परिणमन, वह भाषा के पुद्गलों के आश्रित है। होंठ और भाषा; इच्छा और ज्ञान – इन चारों का काल एक होने पर भी चारों परिणाम अलग हैं।

उसमें भी इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम, आत्माश्रित होने पर भी इच्छापरिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं हैं। ज्ञान, वह आत्मा का परिणाम है, इच्छा का नहीं; इसी प्रकार इच्छा, वह आत्मा का परिणाम है, ज्ञान का नहीं। इच्छा को जाननेवाला ज्ञान, वह इच्छा का कार्य नहीं है; उसी प्रकार वह ज्ञान, इच्छा को उत्पन्न भी नहीं करता। इच्छापरिणाम, आत्मा का कार्य अवश्य है परन्तु ज्ञान का कार्य नहीं है। भिन्न-भिन्न गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। एक ही द्रव्य में होने पर भी एक गुण के आश्रित दूसरे गुण के परिणाम नहीं हैं।

अहो! कितनी स्वतन्त्रता!! इसमें पर के आश्रय की बात ही कहाँ रही ?

आत्मा में चारित्रगुण इत्यादि अनन्त गुण हैं। उनमें चारित्र का विकृतपरिणाम इच्छा है, वह चारित्रगुण के आश्रित है और उस समय इच्छा का ज्ञान हुआ, वह ज्ञानगुणरूप परिणामी का परिणाम है; वह कहीं इच्छा के परिणाम के आश्रित नहीं है। इस प्रकार इच्छापरिणाम और ज्ञानपरिणाम – इन दोनों का भिन्न-भिन्न परिणामन है; दोनों एक-दूसरे के आश्रित नहीं है।

भाई! सत् जैसा है, उसी प्रकार उसका ज्ञान करे तो सत् ज्ञान हो और सत् का ज्ञान करे तो उसका बहुमान एवं यथार्थ का आदर प्रगट हो, रुचि हो, श्रद्धा दृढ़ हो और उसमें स्थिरता हो; उसे ही धर्म कहा जाता है। सत् से विपरीत ज्ञान करे, उसे धर्म नहीं होता। स्व में स्थिरता ही मूलधर्म है परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान बिना स्थिरता कहाँ करेगा ?

आत्मा और शरीरादि रजकण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं; शरीर की अवस्था, हलन-चलन, बोलना – ये सब परिणामी पुद्गलों के परिणाम हैं; उन पुद्गलों के आश्रित वे परिणाम उत्पन्न हुए हैं, इच्छा के आश्रित नहीं; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित ज्ञान भी नहीं है। पुद्गल के परिणाम, आत्मा के आश्रित मानना और आत्मा के परिणाम, पुद्गलाश्रित मानना, इसमें तो विपरीतमान्यतारूप मूढ़ता है।

जगत् में भी जो वस्तु जैसी हो, उससे विपरीत बतलानेवाले को लोग मूर्ख कहते हैं तो फिर सर्वज्ञकथित यह लोकोत्तर वस्तुस्वभाव जैसा है, वैसा न मानकर विरुद्ध माननेवाला तो लोकोत्तर

मूर्ख और अविवेकी ही है। विवेकी और विलक्षण कब कहा जाए? जबकि वस्तु के जो परिणाम हुए, उसे कार्य मानकर, उसे परिणामी – वस्तु के आश्रित समझे और दूसरे के आश्रित न माने, तब स्व-पर का भेदज्ञान होता है और तभी विवेकी है – ऐसा कहने में आता है। आत्मा के परिणाम, पर के आश्रित नहीं होते। विकारी और अविकारी जितने भी परिणाम जिस वस्तु के हैं, वे उस वस्तु के आश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं।

पदार्थ के परिणाम, वे उसी पदार्थ का कार्य है – यह एक बात। दूसरी बात यह कि वे परिणाम, उसी पदार्थ के आश्रय से होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते – यह नियम जगत् के समस्त पदार्थों में लागू होता है।

देखो भाई! यह तो भेदज्ञान के लिए वस्तुस्वभाव के नियम बतलाये गये। अब, धीरे-धीरे दृष्टान्तपूर्वक युक्ति से वस्तुस्वरूप सिद्ध किया जाता है।

देखो! किसी को ऐसे भाव उत्पन्न हुए कि मैं सौ रुपये दान में दूँ, उसका वह परिणाम आत्मवस्तु के आश्रित हुआ है; वहाँ रुपये जाने की जो क्रिया होती है, वह रुपये के रजकणों के आश्रित है, जीव की इच्छा के आश्रित नहीं। अब उस समय उन रुपयों की क्रिया का ज्ञान अथवा इच्छा के भाव का ज्ञान होता है, वह ज्ञानपरिणाम आत्माश्रित होता है। इस प्रकार परिणामों का विभाजन करके वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना चाहिए।

भाई! तेरा ज्ञान और तेरी इच्छा – ये दोनों परिणाम, आत्मा में होते हुए भी जब एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं तो फिर पर के

आश्रय की तो बात ही कहाँ रही? दान की इच्छा हुई और रुपये दिये गये; वहाँ रुपये जाने की क्रिया भी हाथ के आश्रित नहीं है, हाथ का हिलना इच्छा के आश्रित नहीं है और इच्छा का परिणमन, ज्ञान के आश्रित नहीं है; सभी अपने-अपने आश्रयभूत वस्तु के आधार से हैं।

देखो! यह सर्वज्ञ के पदार्थ-विज्ञान का पाठ है - ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान, सच्चा पदार्थ-विज्ञान है। जगत् के पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे सदा एकरूप नहीं रहते, परन्तु परिणमन करके नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य किया करते हैं - ये बात चौथे बोल में कही जाएगी। जगत् के पदार्थों का स्वभाव ऐसा है कि वे नित्य स्थायी रहें और उनमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य उनके अपने ही आश्रित हुआ करे। वस्तुस्वभाव का ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

- जीव को इच्छा हुई, इसलिए हाथ हिला और सौ रुपये दिये गये - ऐसा नहीं है।

- इच्छा का आधार आत्मा है; हाथ और रुपयों का आधार परमाणु है।

- रुपयों के ज्ञान से इच्छा हुई - ऐसा भी नहीं है।

- हाथ का हलन-चलन, वह हाथ के परमाणुओं को आधार से है।

- रुपयों का आना-जाना, वह रुपयों के परमाणुओं के आधार से है।

- इच्छा का होना, वह आत्मा का चारित्रगुण के आधार से है।

यह तो भिन्न-भिन्न द्रव्य के परिणामों की भिन्नता की बात हुई; यहाँ तो उससे भी आगे अन्दर की बात लेना है। एक ही द्रव्य के अनेक परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं - ऐसा बतलाना है। राग और ज्ञान दोनों के कार्य भिन्न हैं; एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं।

किसी ने गाली दी और जीव को द्वेष के पापपरिणाम हुए; वहाँ वे पाप के परिणाम प्रतिकूलता के कारण नहीं हुए और गाली देनेवाले के आश्रित भी नहीं हुए, परन्तु चारित्रगुण के आश्रित हुए हैं। चारित्रगुण ने उस समय उस परिणाम के अनुसार परिणमन किया है; अन्य तो निमित्तमात्र हैं।

अब, द्वेष के समय उसका ज्ञान हुआ कि 'मुझे यह द्वेष हुआ' - यह ज्ञानपरिणाम, ज्ञानगुण के आश्रित है; क्रोध के आश्रित नहीं है। ज्ञानस्वभावी द्रव्य के आश्रित ज्ञानपरिणाम होते हैं; अन्य के आश्रित नहीं होते। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनपरिणाम, सम्यग्ज्ञानपरिणाम, आनन्द परिणाम इत्यादि में भी ऐसा ही समझना। यह ज्ञानादि परिणाम, द्रव्य के आश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं हैं तथा परस्पर एक-दूसरे के आश्रित भी नहीं हैं।

गाली के शब्द अथवा द्वेष के समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, शब्दों के आश्रित नहीं है और क्रोध के आश्रित भी नहीं है, उसका आधार तो ज्ञानस्वभावी वस्तु है; इसलिए उस पर दृष्टि लगा तो तेरी पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट हो जाएगा। इस मोक्षमार्गरूपी कार्य का कर्ता भी तू ही है; अन्य कोई नहीं।

अहो! यह तो सुगम और स्पष्ट बात है। लौकिक पढ़ाई अधिक न की हो, तथापि यह समझ में आ जाए – ऐसा है। जरा अन्तर में उतरकर लक्ष्य में लेना चाहिए कि आत्मा अस्तिरूप है, उसमें ज्ञान है, आनन्द है, श्रद्धा है, अस्तित्व है; इस प्रकार अनन्त गुण हैं। इन अनन्त गुणों के भिन्न-भिन्न अनन्त परिणाम प्रति समय होते हैं, उन सभी का आधार परिणामी – ऐसा आत्मद्रव्य है; अन्य वस्तु तो उनका आधार नहीं है परन्तु अपने में दूसरे गुणों के परिणाम भी उनका आधार नहीं है। जैसे कि श्रद्धापरिणाम का आधार ज्ञानपरिणाम नहीं है और ज्ञानपरिणाम का आधार श्रद्धापरिणाम नहीं है; दोनों परिणामों का आधार, आत्मा ही है। इसी प्रकार सर्व गुणों के परिणामों के लिये समझना। इस प्रकार परिणामी का ही परिणाम है; अन्य का नहीं।

इस 211 वें कलश में आचार्यदेव द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के चार बोलों में से अभी दूसरे बोल का विवेचन चल रहा है। प्रथम तो कहा कि ‘परिणाम एव किल कर्म’ और फिर कहा कि ‘स भवति परिणामिन एव, न अपरस्य भवेत्’ परिणाम ही कर्म है और वह परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं – ऐसा निर्णय करके स्वद्रव्योन्मुख लक्ष्य जाने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शनपरिणाम हुआ, वह आत्मा का कर्म है, वह आत्मारूप परिणामी के आधार से हुआ है। पूर्व के मन्दराग के आश्रय से अथवा वर्तमान में शुभराग के आश्रय से सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान के परिणाम नहीं होते। यद्यपि राग भी है तो आत्मा का

परिणाम, तथापि श्रद्धापरिणाम से रागपरिणाम अन्य हैं, वे श्रद्धा के परिणाम, राग के आश्रित नहीं हैं क्योंकि परिणाम, परिणामी के ही आश्रय से होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते।

उसी प्रकार चारित्रपरिणाम में-आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह चारित्र का कार्य है; वह कार्य श्रद्धापरिणाम के आश्रित नहीं है, ज्ञानपरिणाम के आश्रित नहीं, परन्तु चारित्रगुण धारण करनेवाले आत्मा के ही आश्रित है। शरीरादि के आश्रय से चारित्रपरिणाम नहीं है।

श्रद्धा के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
 ज्ञान के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
 स्थिरता के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
 आनन्द के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

बस, मोक्षमार्ग के सभी परिणाम स्वद्रव्याश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं हैं। उस समय अन्य (रागादि) परिणाम होते हैं, उनके आश्रित भी ये परिणाम नहीं हैं। एक समय में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों के परिणाम होते हैं, वे कर्म हैं; उनका आधार धर्मा अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु है; उस समय अन्य जो अनेक परिणाम होते हैं, उनके आधार से श्रद्धा इत्यादि के परिणाम नहीं हैं। निमित्तादि के आधार से तो नहीं हैं परन्तु अपने दूसरे परिणाम के आधार से भी कोई परिणाम नहीं है। एक ही द्रव्य में एक साथ होनेवाले परिणामों में भी एक परिणाम, दूसरे परिणाम के आश्रित नहीं है, द्रव्य के ही आश्रित सभी परिणाम हैं। सभी परिणामरूप से परिणामन करनेवाला

‘द्रव्य’ ही है; अर्थात्, द्रव्यसन्मुख लक्ष्य जाते ही सम्यक् पर्यायें प्रगट होने लगती हैं।

वाह! देखो, आचार्यदेव की शैली!! थोड़े में बहुत समा देने की अद्भुत शैली है। चार बोलों के इस महान् सिद्धान्त में वस्तुस्वरूप के बहुत से नियमों का समावेश हो जाता है। यह त्रिकाल सत्य, सर्वज्ञ द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त है।

अहो! यह परिणामी के परिणाम की स्वाधीनता, सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप का तत्त्व है। सन्तों ने इसका विस्तार करके आश्चर्यकारी कार्य किया है, पदार्थ का पृथक्करण करके भेदज्ञान कराया है। अन्तर में इसका मन्थन करके देख, तो मालूम हो कि अनन्त सर्वज्ञों तथा सन्तों ने ऐसा ही वस्तुस्वरूप कहा है और ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

सर्वज्ञ भगवन्त दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा तत्त्व कहते आये हैं – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है किन्तु वस्तुतः दिव्यध्वनि तो परमाणुओं के आश्रित है।

कोई कहे कि अरे, दिव्यध्वनि भी परमाणु-आश्रित हैं? हाँ, दिव्यध्वनि, वह पुद्गल का परिणाम है और पुद्गलपरिणाम का आधार तो पुद्गलद्रव्य ही होता है; जीव उसका आधार नहीं हो सकता। भगवान का आत्मा तो अपने केवलज्ञानादि का आधार है। भगवान का आत्मा तो केवलज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि निज-परिणामरूप परिणमन करता है परन्तु कहीं देह और वाणीरूप अवस्था धारण करके परिणमित नहीं होता; उस रूप तो पुद्गल ही परिणमित होता है। परिणाम, परिणामी के ही होते हैं; अन्य के नहीं।

भगवान की सर्वज्ञता के आधार से दिव्यध्वनि के परिणाम हुए – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। भाषारूप परिणाम, अनन्त पुद्गलाश्रित हैं और सर्वज्ञता आदि परिणाम, जीवाश्रित है; इस प्रकार दोनों की भिन्नता है। कोई किसी का कर्ता या आधार नहीं है।

देखो! यह भगवान आत्मा की अपनी बात है। समझ में नहीं आयेगी – ऐसा नहीं मानना; अन्तरलक्ष्य करे तो समझ में आये – ऐसी सरल है। देखो, लक्ष्य में लो कि अन्दर कोई वस्तु है या नहीं? और यह जो जानने के या रागदि के भाव होते हैं – इन भावों का कर्ता कौन है? आत्मा स्वयं उनका कर्ता है। इस प्रकार आत्मा को लक्ष्य में लेने के लिये दूसरी पढ़ाई की कहाँ आवश्यकता है? यह अज्ञानी जीव, दुनियाँ की बेगार / मजदूरी करके दुःखी होता है, उसके बदले यदि वस्तुस्वभाव को समझे तो कल्याण हो जाए। अरे जीव! ऐसे सुन्दर न्याय द्वारा सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे तू समझ!

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के दो बोल हुए।

अब, तीसरा बोल –

(3) कर्ता के बिना, कर्म नहीं होता

कर्ता; अर्थात्, परिणमित होनेवाली वस्तु और कर्म; अर्थात्, उसकी अवस्थारूप कार्य; कर्ता के बिना कर्म नहीं होता; अर्थात्, वस्तु के बिना पर्याय नहीं होती; सर्वथा शून्य में से कोई कार्य उत्पन्न हो जाए – ऐसा नहीं होता।

देखो! यह वस्तुविज्ञान के महान सिद्धान्त हैं, इस पर 211 वें कलश में चार बोलों द्वारा चारों पक्षों से स्वतन्त्रता सिद्ध की है।

अज्ञानी, विदेशों में अज्ञान की पढ़ाई के पीछे हैरान होते हैं, उसकी अपेक्षा सर्वज्ञदेव कथित इस परमसत्य वीतरागी-विज्ञान को समझे तो अपूर्व कल्याण हो।

(1) परिणाम, सो कर्म - यह एक बात।

(2) वह परिणाम किसका? कि परिणामी वस्तु का परिणाम है, दूसरे का नहीं। यह दूसरा बोल; इसका बहुत विस्तार किया।

अब, यहाँ इस तीसरे बोल में कहते हैं कि परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता। परिणामी वस्तु से भिन्न अन्यत्र कहीं परिणाम हो - ऐसा नहीं होता। परिणामी वस्तु में ही उसके परिणाम होते हैं; इसलिए परिणामी वस्तु, वह कर्ता है; उसके बिना कार्य नहीं होता। देखो, इसमें निमित्त के बिना नहीं होता - ऐसा नहीं कहा। निमित्त, निमित्त में रहता है, वह कहीं इस कार्य में नहीं आ जाता; इसलिए निमित्त के बिना कार्य होता है परन्तु परिणामी के बिना कार्य नहीं होता। निमित्त भले हो परन्तु उसका अस्तित्व तो निमित्त में है; इसमें (कार्य में) उसका अस्तित्व नहीं है। परिणामी वस्तु की सत्ता में ही उसका कार्य होता है।

आत्मा के बिना सम्यक्त्वादि परिणाम नहीं होते। अपने समस्त परिणामों का कर्ता आत्मा है, उसके बिना कर्म नहीं होता। 'कर्म कृतं शून्यं न भवति' - प्रत्येक पदार्थ की अवस्था उस-उस पदार्थ के बिना नहीं होती। सोना नहीं है और गहने बन गये; वस्तु नहीं है और अवस्था हो गयी - ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है, वह त्रैकालिक वस्तु को प्रगट करती है - प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तु की है।

जैसे कि पुद्गल, जड़कर्मरूप होते हैं, वे कर्मपरिणाम, कर्ता के बिना नहीं होते। अब उनका कर्ता कौन? - तो कहते हैं कि उस पुद्गलकर्मरूप परिणमित होनेवाले रजकण ही कर्ता हैं; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

- आत्मा, कर्ता होकर जड़कर्म का बन्ध करे - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

- जड़कर्म, आत्मा को विकार करायें - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

- मन्दकषाय के परिणाम, सम्यक्त्व का आधार हों - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

- शुभराग से क्षायिकसम्यक्त्व हो - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह सब तो विपरीत है, अन्याय है। भाई! तेरे यह अन्याय वस्तुस्वरूप को सहन नहीं होंगे। वस्तुस्वरूप को विपरीत मानने से तेरे आत्मा को बहुत दुःख होगा - ऐसी करुणा सन्तों को आती है। सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दुःखी हो। जगत के सारे जीव सत्यस्वरूप को समझें और दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें - ऐसी उनकी भावना है।

भाई! तेरे सम्यग्दर्शन का आधार, तेरा आत्मद्रव्य है; शुभराग कहीं उसका आधार नहीं है। मन्दराग, वह कर्ता और सम्यग्दर्शन उसका कार्य - ऐसा त्रिकाल में नहीं है। वस्तु का जो स्वरूप है, वह तीन काल में आगे-पीछे नहीं हो सकता। कोई जीव, अज्ञान से उसे विपरीत माने, उससे कहीं सत्य बदल नहीं जाता। कोई

समझे या न समझे, सत्य तो सदा सत्यरूप ही रहेगा, वह कभी बदलेगा नहीं। जो उसे यथावत् समझेंगे, वे अपना कल्याण कर लेंगे और जो नहीं समझेंगे, उनकी तो बात ही क्या? वे तो संसार में भटक ही रहे हैं।

देखो! वाणी सुनी, इसलिए ज्ञान होता है न? परन्तु सोनगढ़वाले इन्कार करते हैं कि वाणी के आधार से ज्ञान नहीं होता – ऐसा कहकर कुछ लोग कटाक्ष करते हैं – लेकिन भाई! यह तो वस्तुस्वरूप है, त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी दिव्यध्वनि में यही कहते हैं कि ज्ञान, आत्मा के आश्रय से होता है; ज्ञान, आत्मा का कार्य है, दिव्यध्वनि के परमाणु का कार्य नहीं है। ज्ञानकार्य का कर्ता, आत्मा है; न कि वाणी के रजकण। जिस पदार्थ के जिस गुण का जो वर्तमान होता है, वह अन्य पदार्थ के अन्य गुण के आश्रय से नहीं होता। उसका कर्ता कौन? तो कहते हैं कि वस्तु स्वयं। कर्ता और उसका कार्य दोनों एक ही वस्तु में होने का नियम है, वे भिन्न वस्तु में नहीं होते।

यह लकड़ी ऊपर उठी, वह कार्य है; यह किसका कार्य है? कर्ता का कार्य है। कर्ता के बिना कार्य नहीं होता। कर्ता कौन है? कि लकड़ी के रजकण ही लकड़ी की इस अवस्था के कर्ता है; यह हाथ, अँगुली या इच्छा उसके कर्ता नहीं हैं।

अब, अन्तर का सूक्ष्म दृष्टान्त लें तो किसी आत्मा में इच्छा और सम्यग्ज्ञान दोनों परिणाम वर्तते हैं; वहाँ इच्छा के आधार से सम्यग्ज्ञान नहीं है और इच्छा, सम्यग्ज्ञान का कर्ता नहीं है। आत्मा ही कर्ता होकर उस कार्य को करता है। कर्ता के बिना कर्म नहीं है

और दूसरा कोई कर्ता नहीं है; इसलिए जीव कर्ता द्वारा ज्ञान कार्य होता है। इस प्रकार समस्त पदार्थों के सर्व कार्यों में सर्व पदार्थ का कर्तापना है – ऐसा समझना चाहिए।

देखो भाई! यह तो सर्वज्ञ भगवान के घर की बात है, इसे सुनकर सन्तुष्ट होना चाहिए। अहा! सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाकर मार्ग स्पष्ट कर दिया है; सन्तों ने सारा मार्ग सरल और सुगम बना दिया है, उसमें बीच में कहीं अटकना पड़े – ऐसा नहीं है। पर से भिन्न ऐसा स्पष्ट वस्तुस्वरूप समझे तो मोक्ष हो जाए। बाहर से तथा अन्तर से ऐसा भेदज्ञान समझने पर, मोक्ष हथेली में आ जाता है। मैं तो पर से पृथक् हूँ और मुझमें एक गुण का कार्य दूसरे गुण से नहीं है – यह महान् सिद्धान्त समझने पर स्वाश्रयभाव से अपूर्व कल्याण प्रगट होता है।

कर्म अपने कर्ता के बिना नहीं होता – यह बात तीसरे बोल में कहीं और चौथे बोल में कर्ता की (वस्तु की) स्थिति एकरूप; अर्थात्, सदा एक समान नहीं होती, परन्तु वह नये-नये परिणामरूप से बदलती रहती है – यह बात कहेंगे। हर बार प्रवचन में इस चौथे बोल का विशेष विस्तार होता है; इस बार दूसरे बोल का विशेष विस्तार आया है।

कर्ता के बिना कार्य नहीं होता – यह सिद्धान्त है। वहाँ कोई कहे कि यह जगत्, कार्य है और ईश्वर उसका कर्ता है – तो यह बात वस्तुस्वरूप की नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने पर्याय का ईश्वर है और वही कर्ता है; उससे भिन्न दूसरा कोई या अन्य कोई पदार्थ कर्ता नहीं है। पर्याय, वह कार्य और पदार्थ उसका

कर्ता। कर्ता के बिना कार्य नहीं और दूसरा कोई कर्ता नहीं है।

कोई भी अवस्था हो - शुद्ध अवस्था, विकारी अवस्था या जड़ अवस्था; उसका कर्ता न हो - ऐसा नहीं होता तथा दूसरा कोई कर्ता हो - ऐसा भी नहीं होता।

प्रश्न - तो क्या भगवान उसके कर्ता हैं ?

उत्तर - हाँ, भगवान कर्ता अवश्य हैं परन्तु कौन भगवान है ? अन्य कोई भगवान नहीं, परन्तु यह आत्मा स्वयं अपना भगवान है, वह कर्ता होकर अपने शुद्ध-अशुद्धपरिणामों का कर्ता है। जड़ के परिणाम को जड़ पदार्थ करता है, वह अपना भगवान है। प्रत्येक वस्तु अपनी -अपनी अवस्था की रचयिता - ईश्वर है। प्रत्येक पदार्थ अपना / स्व का स्वामी है; उसे पर का स्वामी मानना मिथ्यात्व है।

संयोग के बिना अवस्था नहीं होती - ऐसा नहीं है परन्तु वस्तु परिणमित हुए बिना अवस्था नहीं होती - ऐसा सिद्धान्त है। पर्याय के कर्तृत्व का अधिकार वस्तु का अपना है, उसमें पर का अधिकार नहीं है।

इच्छारूपी कार्य हुआ, उसका कर्ता आत्मद्रव्य है। पूर्व पर्याय में तीव्र राग था, इसलिए वर्तमान में राग हुआ - इस प्रकार पूर्व पर्याय में इस पर्याय का कर्तापना नहीं है। वर्तमान में आत्मा वैसे भावरूप परिणमित होकर स्वयं कर्ता हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानपरिणाम, श्रद्धापरिणाम, आनन्दपरिणाम, उन सबका कर्ता आत्मा है; पर नहीं। पूर्व के परिणाम भी कर्ता नहीं तथा वर्तमान में उसके साथ वर्तते हुए अन्य परिणाम भी कर्ता नहीं हैं; आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता है।

शास्त्र में पूर्व पर्याय को कभी-कभी उपादान कहते हैं, वह तो पूर्व -पश्चात् की सन्धि बतलाने के लिये कहा है परन्तु पर्याय का कर्ता तो उस समय वर्तता हुआ द्रव्य है; वही परिणामी होकर कार्यरूप परिणमित हुआ है। जिस समय सम्यग्दर्शनपर्याय हुई, उस समय उसका कर्ता आत्मा ही है; पूर्व की इच्छा, वीतराग की वाणी या शास्त्र - वे कोई वास्तव में इस सम्यग्दर्शन के कर्ता नहीं हैं।

उसी प्रकार ज्ञानकार्य का कर्ता भी आत्मा ही है। इच्छा का ज्ञान हुआ, वहाँ वह ज्ञान कहीं इच्छा का कार्य नहीं है और वह इच्छा, ज्ञान का कार्य नहीं है। दोनों परिणाम एक ही वस्तु के होने पर भी उनमें कर्ता-कर्मपना नहीं है, कर्ता तो परिणामी वस्तु है।

पुद्गल में खट्टी-खारी अवस्था थी और ज्ञान के तदनुसार जाना; वहाँ खट्टे-खारे तो पुद्गल के परिणाम हैं और पुद्गल उनका कर्ता है; तत्सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ, उसका कर्ता आत्मा है, उस ज्ञान का कर्ता वह खट्टी-खारी अवस्था नहीं है। अहो! कितनी स्वतन्त्रता!! उसी प्रकार शरीर में रोगादि कार्य हो, उसके कर्ता वे पुद्गल हैं; आत्मा नहीं और उस शरीर की अवस्था का जो ज्ञान हुआ, उसका कर्ता आत्मा है। आत्मा, कर्ता होकर ज्ञानपरिणाम को करता है परन्तु शरीर की अवस्था को वह नहीं करता।

भाई! यह तो परमेश्वर होने के लिये परमेश्वर के घर की बात है। परमेश्वर सर्वज्ञदेव कथित यह वस्तुस्वरूप है।

जगत् में चेतन या जड़ अनन्त पदार्थ अनन्तरूप से नित्य रहकर अपने वर्तमान कार्य को करते हैं, प्रत्येक परमाणु में स्पर्श -रङ्ग आदि अनन्त गुण; स्पर्श की चिकनी आदि अवस्थाएँ; रङ्ग

की काली आदि अवस्थाएँ उन-उन अवस्थाओं का कर्ता परमाणुद्रव्य है; चिकनी अवस्था, वह काली अवस्था की कर्ता नहीं है।

इस प्रकार आत्मा में - प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं। ज्ञान में केवलज्ञान पर्यायरूप कार्य हुआ, आनन्द प्रगट हुआ, उसका कर्ता, आत्मा स्वयं है। मनुष्यशरीर अथवा स्वस्थ शरीर के कारण वह कार्य हुआ - ऐसा नहीं है। पूर्व की मोक्षमार्ग पर्याय के आधार से वह कार्य हुआ - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान और आनन्द के परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं, द्रव्य ही परिणमित होकर उस कार्य का कर्ता हुआ है। भगवान आत्मा स्वयं ही अपने केवलज्ञानादि कार्य का कर्ता है; अन्य कोई नहीं। यह तीसरा बोल हुआ।

(4) वस्तु की स्थिति सदा एकरूप (कूटस्थ) नहीं रहती।

सर्वज्ञदेव द्वारा देखा हुआ वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि वह नित्य अवस्थित रहकर प्रतिक्षण नवीन अवस्थारूप परिणमित होती रहती है। पर्याय बदले बिना ज्यों का त्यों कूटस्थ ही रहे - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है; इसलिए उसमें सर्वथा अकेला नित्यपना नहीं है, पर्याय से परिवर्तनपना भी है। वस्तु स्वयं ही अपनी पर्यायरूप से पलटती है, कोई दूसरा उसे परिवर्तित करे - ऐसा नहीं है।

नयी-नयी पर्यायरूप होना, वह वस्तु का अपना स्वभाव है तो कोई उसका क्या करेगा? इन संयोगों से कारण यह पर्याय हुई - इस प्रकार संयोग के कारण जो पर्याय मानता है, उसने वस्तु के परिणमनस्वभाव को नहीं जाना है, दो द्रव्यों को एक माना है। भाई!

तू संयोगों से न देख, वस्तुत्वभाव को देख! वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि वह नित्य एकरूप न रहे। द्रव्यरूप से एकरूप रहे, परन्तु पर्यायरूप से एकरूप न रहे, पलटता ही रहे - ऐसा वस्तुस्वरूप है।

इन चार बोलों से ऐसा समझाया है कि वस्तु ही अपने परिणामरूप कार्य की कर्ता है - यह निश्चित सिद्धान्त है।

इस पुस्तक का पृष्ठ पहले ऐसा था और फिर पलट गया - वह हाथ लगने से पलटा हो - ऐसा नहीं है परन्तु उन पृष्ठों के रजकणों में ही ऐसा स्वभाव है कि सदा एकरूप उनकी स्थिति नहीं रहता, उनकी अवस्था बदलती रहती है; इसलिए वे स्वयं पहली अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्थारूप हुए हैं, दूसरे के कारण नहीं। वस्तु में भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती ही रहती है; वहाँ संयोग के कारण वह भिन्न अवस्था हुई - ऐसा अज्ञानी का भ्रम है क्योंकि वह संयोग को ही देखता है परन्तु वस्तुस्वभाव को नहीं देखता। वस्तु स्वयं परिणमनस्वभावी है, इसलिए वह एक ही पर्यायरूप नहीं रहती - ऐसे स्वभाव को जाने तो किसी संयोग से अपने में या अपने से पर में परिवर्तन होने की बुद्धि छूट जाए और स्वद्रव्य की ओर देखना रहे; इसलिए मोक्षमार्ग प्रगट हो।

पानी पहले ठण्डा था और चूल्हे पर आने के बाद गर्म हुआ; वहाँ उन रजकणों का ही ऐसा स्वभाव है कि उनकी सदा एक अवस्थारूप स्थिति न रहे; इसलिए वे अपने स्वभाव से ही ठण्डी अवस्था को छोड़कर, गर्म अवस्थारूप परिणमित हुए हैं। इस प्रकार स्वभाव को न देखकर अज्ञानी, संयोग को देखता है कि अग्नि के आने से पानी गर्म हुआ। एक समय में तीन काल तीन

लोक को जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग तीर्थङ्करदेव की दिव्यध्वनि में आया हुआ यह तत्त्व है और सन्तों ने इसे प्रगट किया है। आचार्यदेव ने चार बोलों से स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे समझ ले तो कहीं भ्रम न रहे।

बर्फ के संयोग से पानी ठण्डा हुआ और अग्नि के संयोग से गर्म हुआ – ऐसा अज्ञानी देखता है परन्तु पानी के रजकणों में ही ठण्डा-गर्म अवस्थारूप परिणामित होने का स्वभाव है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। भाई! वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है कि अवस्था की स्थिति एकरूप न रहे। वस्तु कूटस्थ नहीं है परन्तु बहते हुए पानी की भाँति द्रवित होती है – पर्याय को प्रवाहित करती है, उस पर्याय का प्रवाह वस्तु में से आता है; संयोग में से नहीं आता। भिन्न प्रकार के संयोग के कारण अवस्था की भिन्नता हुई अथवा संयोग बदले, इसलिए अवस्था बदल गयी – ऐसा भ्रम अज्ञानी को होता है परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

यहाँ चार बोलों द्वारा वस्तु का स्वरूप एकदम स्पष्ट किया है।

1. परिणाम ही कर्म है।
2. परिणामी वस्तु के ही परिणाम हैं; अन्य के नहीं।
3. वह परिणामरूपी कर्म, कर्ता के बिना नहीं होता।
4. वस्तु की स्थिति एकरूप नहीं रहती।

इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है – यह सिद्धान्त है।

इन चारों बोलों में तो बहुत रहस्य भर दिया है। उसका निर्णय करने से भेदज्ञान तथा द्रव्यसन्मुखदृष्टि से मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

प्रश्न – संयोग के आने पर तदनुसार अवस्था बदलती दिखाई देती है न ?

उत्तर – यह सत्य नहीं है, वस्तुस्वभाव को देखने से ऐसा दिखायी नहीं देता; अवस्था बदलने का स्वभाव वस्तु का अपना है – ऐसा दिखायी देता है। कर्म का मन्द उदय हो, इसलिए मन्दराग और तीव्र उदय हो, इसलिए तीव्रराग – ऐसा नहीं है। अवस्था एकरूप नहीं रहती, परन्तु अपनी योग्यता से मन्द-तीव्ररूप से बदलती है – ऐसा स्वभाव वस्तु का अपना है, वह कहीं पर के कारण नहीं है।

भगवान के निकट जाकर पूजा करे या शास्त्रश्रवण करे, उस समय अलग परिणाम होते हैं और घर पहुँचने पर अलग परिणाम हो जाते हैं, तो क्या संयोग के कारण वे परिणाम बदले ? नहीं; वस्तु एकरूप न रहकर उसके परिणाम बदलते रहें – ऐसा ही उसका स्वभाव है; उन परिणामों का बदलना वस्तु के आश्रय से ही होता है; संयोग के आश्रय से नहीं। इस प्रकार वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है – यह निश्चित सिद्धान्त है।

इन चार बोलों के सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूप को समझे तो मिथ्यात्व की जड़ें उखड़ जाएँ और पराश्रितबुद्धि छूट जाए। ऐसे स्वभाव की प्रतीति होने से अखण्ड स्व-वस्तु पर लक्ष्य जाता है और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उस सम्यग्ज्ञानपरिणाम का कर्ता आत्मा स्वयं है। पहले अज्ञानपरिणाम भी वस्तु के ही आश्रय से थे और अब ज्ञानपरिणाम हुए, वे भी वस्तु के ही आश्रय से हैं।

मेरी पर्याय का कर्ता, दूसरा कोई नहीं है; मेरा द्रव्य परिणामित

होकर मेरी पर्याय का कर्ता होता है – ऐसा निश्चय करने से स्वद्रव्य पर लक्ष्य जाता है और भेदज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान होता है। अब, उस काल में चारित्रदोष से कुछ रागादि परिणाम रहे, वे भी अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा का परिणमन होने से आत्मा का कार्य है – ऐसा धर्मीजीव जानता है; उसे जानने की अपेक्षा से व्यवहार को उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान कहते हैं।

धर्मी को द्रव्य का शुद्धस्वभाव लक्ष्य में आ गया है; इसलिए सम्यक्त्वादि निर्मल कार्य होते हैं और जो राग शेष रहा है, उसे भी वे अपना परिणमन जानते हैं परन्तु अब उसकी मुख्यता नहीं है। मुख्यता तो स्वभाव की हो गयी है। पहले अज्ञानदशा में मिथ्यात्वादि परिणाम थे, वे भी स्वद्रव्य के अशुद्धउपादान के आश्रय से ही थे परन्तु जब निश्चित किया कि मेरे परिणाम अपने द्रव्य के ही आश्रय से होते हैं, तब उस जीव को मिथ्यात्वपरिणाम नहीं रहते; उसे तो सम्यक्त्वादिरूप परिणाम ही होते हैं।

अब, जो रागपरिणमन, साधकपर्याय में शेष रहा, उसमें यद्यपि उसे एकत्वबुद्धि नहीं है, तथापि वह परिणमन अपना है – ऐसा वह जानता है। ऐसा व्यवहार का ज्ञान, उस काल का प्रयोजनवान है। सम्यग्ज्ञान होता है, तब निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है, तब द्रव्य-पर्याय का स्वरूप ज्ञात होता है; तब कर्ता-कर्म का स्वरूप ज्ञात होता है और स्वद्रव्य के लक्ष्य से मोक्षमार्गरूप कार्य प्रगट होता है; उसका कर्ता, आत्मा स्वयं है।

इस प्रकार इस 211 वें कलश में आचार्यदेव ने चार बोलों द्वारा स्पष्टरूप से अलौकिक वस्तुस्वरूप समझाया है, उसका विवेचन पूर्ण हुआ। ●●

(श्रावकधर्म प्रकाश में परिशिष्ट प्रवचन)

भैया भगवतीदास कृत

उपादान-निमित्त संवाद

यह उपादान-निमित्त का संवाद है। अनादि काल से उपादान निमित्त का विवाद चला आ रहा है। उपादान कहता है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों की सावधानी से आत्मा का कल्याणरूपी कार्य होता है। निमित्त कहता है कि शरीररादि की क्रिया करने से अथवा देव-शास्त्र-गुरु से और शुभभाव से आत्मा का कल्याण होता है। इस प्रकार स्वयं अपनी बात सिद्ध करने के लिए उपादान और निमित्त – दोनों युक्तियाँ उपस्थित करते हैं और इस विवाद का समाधान यहाँ पर वीतरागशासन में सच्चे ज्ञान के द्वारा होता है।

अनादिकाल से जगत् के जीवों की दृष्टि पर के ऊपर है; इसलिए मेरे आत्मा का कल्याण करने की मुझमें शक्ति नहीं है। मैं अपङ्ग-शक्तिहीन हूँ, कोई देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि पर मुझे समझा दे तो मेरा कल्याण हो; इस प्रकार अनादिकाल से अपने आत्मा के कल्याण को पराश्रित मानता है।

ज्ञानी की दृष्टि अपनी आत्मा पर है; इसलिए वह मानता है कि आत्मा स्वयं पुरुषार्थ करेगा तो मुक्ति होगी। अपने पुरुषार्थ के अतिरिक्त किसी के आशीर्वाद से कल्याण होगा, यह मानना तो

अज्ञान है। इस प्रकार उपादान कहता है कि आत्मा से ही कल्याण होता है और निमित्त कहता है कि परवस्तु का साथ हो तो आत्मकल्याण होता है। इसमें निमित्त की बात बिलकुल मिथ्या व अज्ञान से परिपूर्ण है, यही बात इस संवाद में सिद्ध की गयी है।

उपादान अर्थात् वस्तु की सहज शक्ति। आत्मा पर से भिन्न है, देहादिक किसी परवस्तु से आत्मा का कल्याण नहीं होता; इस प्रकार श्रद्धा-ज्ञान करना, सो उपादानकारण है।

निमित्त अर्थात् अनुकूल संयोगी अन्य वस्तु। जब आत्मा सच्ची श्रद्धा-ज्ञान करता है, तब जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उपस्थित हों, उन्हें निमित्त कहा जाता है।

देव-शास्त्र-गुरु मुझसे भिन्न हैं और पुण्य-पाप के भाव भी मैं नहीं हूँ; मैं ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ; इस प्रकार जीव अपनी शक्ति की सम्भाल करता है, वह उपादानकारण है और अपनी शक्ति उपादान है। यहाँ पर उपादान और उपादानकारण का भेद बताया गया है। **उपादान, त्रिकाली द्रव्य है और उपादानकारण, पर्याय है।** जो जीव, उपादानशक्ति को सम्भाल कर, उपादानकारण को करता है, उसके मुक्तिरूपी कार्य अवश्य प्रगट होता है।

आगे, ४२ वें दोहे में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि 'उपादान और निमित्त तो सभी जीवों के होता है किन्तु जो वीर है, वह निजशक्ति को सम्भाल लेता है और भवसागर को पार करता है।' यहाँ पर निजशक्ति की सँभाल करना उपादानकारण है और वही मुक्ति का कारण है। आत्मा में शक्ति तो बहुत कुछ है किन्तु जब स्वयं उस शक्ति की सम्भाल करे, तब श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूप

मुक्ति का उपाय होता है किन्तु अपनी शक्ति की सम्भाल किये बिना मुक्ति का उपाय नहीं हो सकता। यही बताने के लिए इस संवाद में उपादान और निमित्त की एक दूसरे के विरुद्ध युक्तियाँ दी गयी हैं और इस सम्बन्ध में श्री सर्वज्ञ भगवान का अन्तिम निर्णय दिया गया है, जिससे उपर्युक्त कथन सिद्ध होता है।

आत्मा का उपादानस्वभाव मन, वाणी, देह रहित है, उसे किसी परवस्तु की सहायता नहीं है, ऐसी सहजशक्ति का जो भान करता है, वह उपादानस्वभाव को जानता है। उपादानस्वभाव को जाना, सो उपादानकारण हुआ और उस समय उपस्थित देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि निमित्त कहलाते हैं। उपादान-निमित्त की यह वार्ता बड़ी अच्छी और समझने योग्य है। इसमें शास्त्राधार से अपूर्व कथन किया गया है। उसमें पहले माङ्गलिकरूप में निम्नलिखित दोहा कहा गया है -

मङ्गलाचरण

पाद प्रणामि जिनदेव के, एक उक्ति उपजाय।

उपादान अरु निमित्त को, कहूँ संवाद बनाय ॥ 1 ॥

अर्थ - जिनेन्द्रदेव के चरणों में प्रणाम करके एक अपूर्व कथन तैयार करता हूँ - उपादान और निमित्त का संवाद बना कर उसे कहता हूँ।

दोहा 1 पर प्रवचन

इस बात को समझने के लिए यदि जीव गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसका रहस्य ज्ञात हो। जैसे, बीस किलो दही की छाछ में से मक्खन निकालने के लिए यदि ऊपर ही ऊपर हाथ फेरा जाये

तो मक्खन नहीं निकलता, किन्तु छाछ को बिलोकर भीतर नीचे तक हाथ डालकर मथे, तब मक्खन ऊपर आता है। यदि सर्दी के दिनों में ठण्ड के भय से आलस्य करके छाछ के भीतर हाथ न डाले तो छाछ में से मक्खन नहीं निकलेगा; इसी प्रकार जैनशासन में जैन परमात्मा सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये तत्त्वों में से यदि गहरी तर्कबुद्धि के द्वारा गहरा विचार करके मक्खन निकाले तो मुक्ति होती है। उपर्युक्त दोहे में 'उक्ति' शब्द का प्रयोग किया है, उसका इस प्रकार अर्थ किया है।

जिनदेव सर्वज्ञ वीतराग भगवान के चरणकमल में प्रणाम करके अर्थात् विशेष प्रकार से नमस्कार करके, मैं एक युक्ति बनाता हूँ अर्थात् तर्क का दोहन करता हूँ। इस संवाद में युक्तिपूर्वक बात कही गयी है; इसलिए समझनेवाले को भी तर्क और युक्ति के द्वारा समझने का परिश्रम करना होगा। यों ही ऊपरी तौर पर सुन लेने से समझ में नहीं आयेगा। जैसे, छाछ को बिलोने से मक्खन निकलता है; उसी प्रकार स्वयं ज्ञान में विचार करके समझे तो यथार्थ तत्त्व प्राप्त होता है। जैसे, घर का आदमी चाहे जितनी अच्छी नरम रोटी बनावे, किन्तु वह कहीं खिला नहीं देता, उसे स्वयं खाना होता है; इसी प्रकार श्री सद्गुरुदेव चाहे जैसी सरल भाषा में कहें, किन्तु भाव तो स्वयं को ही समझना होगा। तत्त्व को समझने के लिए अपने में विचार करना चाहिए।

जिन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शनरूपी आत्मलक्ष्मी प्रगट हुई हैं, ऐसे श्री सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा को नमस्कार करके, उनकी कही गई बात को न्याय की सन्धि से मैं (भैया भगवतीदास) युक्तिपूर्वक उपादान-निमित्त के संवाद के रूप में कहता हूँ।

शिष्य का प्रश्न -

पूछत है कोऊ तहाँ, उपादान किह नाम।

कहो निमित्त कहिये कहा, कब के हैं इह ठाम ॥ 2 ॥

अर्थ - यहाँ कोई पूछता है कि उपादान किसका नाम है, निमित्त किसे कहते हैं और उनका सम्बन्ध कब से है? सो कहो!

दोहा 2 पर प्रवचन

उपादान का अर्थ क्या है? यह बहुत से लोग नहीं जानते। हिसाब की बहियों में तो उपादान का नाम आता नहीं है। दया इत्यादि करने से धर्म होता है, यह तो बहुत से लोग सुनते और मानते हैं किन्तु यह उपादान क्या है और निमित्त क्या है, इसका स्वरूप नहीं जानते; इसलिए उपादान और निमित्त का स्वरूप इस संवाद में बताया गया है।

दही के होने में दूध उपादान और छाछ निमित्त है। दही, दूध में से होता है, छाछ में से नहीं होता। यदि छाछ में से दही होता हो तो पानी में छाछ डालने से भी दही हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार शिष्य के आत्मा की पर्याय बदलकर मोक्ष होता है; कहीं गुरु का आत्मा बदलकर शिष्य की मोक्षदशा के रूप में नहीं हो जाता है। शिष्य का आत्मा अपना उपादान है, वह स्वयं समझकर मुक्त होता है किन्तु गुरु के आत्मा में शिष्य की कोई अवस्था नहीं होती।

उपादान = 'उप+आदान' उप का अर्थ है समीप और आदान का अर्थ है ग्रहण होना। जिस पदार्थ के समीप में से कार्य का ग्रहण हो, वह उपादान है और उस समय जिस परपदार्थ की

अनुकूल उपस्थिति हो, वह निमित्त है।

शिष्य प्रश्न पूछता है कि हे प्रभु! आप उपादान किसे कहते हैं और निमित्त किसे कहते हैं और वे उपादान तथा निमित्त एक स्थान पर कब से एकत्रित हुए हैं? दोनों का संयोग कब से है?

देखो! कोई विरला जीव ही तत्त्व के प्रश्नों को पूछने के लिये खड़ा रहता है; जैसे, जिसे प्यास लगी होती है, वही पानी की प्याऊ के पास जाकर खड़ा होता है; इसी प्रकार जिसे आत्मस्वरूप को समझने की प्यास लगी है और उस ओर की जिसे आन्तरिक आकाँक्षा है, वही जीव सत्समागम में तत्त्व सम्बन्धी प्रश्न पूछता है।

- ऐसे जिज्ञासु शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए कविवर कहते हैं कि -

उपादान निज शक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।

है निमित्त परयोग तें, बन्यो अनादि बनाव ॥ 3 ॥

अर्थ - उपादान अपनी निज की शक्ति है, जीव का मूलस्वभाव है और निमित्त, परसंयोग है; उनका सम्बन्ध अनादिकाल से बना हुआ है।

दोहा 3 पर प्रवचन

यहाँ पर कहा है कि जीव का मूलस्वभाव उपादान है क्योंकि यहाँ पर जीव की मुक्ति की बात लेनी है; इसलिए यह बताया है कि जीव की मुक्ति में उपादान क्या है और निमित्त क्या है? जीव का मूलस्वभाव उपादान के रूप में लिया गया है। यहाँ समस्त द्रव्यों की सामान्य बात नहीं है किन्तु विशेषरूप से जीवद्रव्य की मुक्ति की ही बात है।

जीव की पूर्ण शक्ति उपादान है। यदि उसकी पहिचान करे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप उपादानकारण प्रगट हो और मुक्ति प्राप्त हो। जीव का मूलस्वभाव ही मुक्ति प्राप्त करना है, वह अन्तर में है। अन्तरङ्ग की शक्ति में से मुक्ति प्रगट होती है; किसी देव-गुरु-शास्त्र-वाणी अथवा मनुष्यशरीर इत्यादि पर की सहायता से जीव की मुक्ति नहीं होती।

प्रश्न - जो सच्चे गुरु होते हैं, वे भूले हुआओं को मार्ग तो बताते ही हैं; इसलिए उनकी इतनी सहायता तो मानी ही जाएगी?

उत्तर - जो भूला हुआ है, वह पूछकर निश्चय करता है तो किसके ज्ञान से निश्चय करता है? स्वयं के ज्ञान से अथवा गुरु के ज्ञान से? गुरु कहीं किसी के ज्ञान में निश्चय नहीं करा देते, किन्तु जीव स्वयं अपने ज्ञान में निश्चय करता है; इसलिए जो समझता है, वह अपनी ही उपादानशक्ति से समझता है।

जैसे किसी को सिद्धपुर जाना है, उसने किसी जानकार से पूछा कि सिद्धपुर कहाँ है? तब उसने जवाब दिया कि (1) यहाँ से सिद्धपुर 8 कोस दूर है, (2) मार्ग में जाते हुए बीच में दो बड़े शीतल छायावाले वटवृक्ष मिलेंगे, (3) आगे चलने पर एक मीठे पानी का अमृतसरोवर मिलेगा। उसके बाद तत्काल ही सिद्धपुर आयेगा; इस प्रकार जानकार ने कहा, किन्तु उस पर विश्वास करके निश्चय कौन करता है? बतानेवाला या भूला हुआ आदमी? जो भूला है, वह अपने ज्ञान में निश्चय करता है। इसी प्रकार मुक्ति की आकाँक्षा रखनेवाला शिष्य कहता है कि मुक्ति का अन्तरङ्गकारण और बहिरङ्गकारण क्या है और प्रभो! मेरी

सिद्धदशा कैसे प्रगट होगी, उसका उपाय / मार्ग क्या है ? श्रीगुरु उसका उत्तर देते हैं -

(1) आत्मा की पहचान से और स्वाश्रय की पूर्णता से सिद्धदशा प्रगट होती है, (2) आत्मा की सच्ची पहचान और श्रद्धा करने पर स्वभाव की परमशान्ति का अनुभव होता है अर्थात् आत्मा की श्रद्धा और ज्ञानरूपी दो वटवृक्षों की शीतलता सिद्धदशा के मार्ग में आती हैं, (3) उसके बाद आगे बढ़ने पर चारित्रदशा प्रगट होती है अर्थात् स्वरूपरमणतारूप अमृतसरोवर आता है; इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग पूर्ण होने पर केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होती है।

यहाँ पर उपादान-निमित्त सिद्ध करना है। जब शिष्य तैयार होकर श्रीगुरु से पूछता है कि प्रभु! मुक्ति कैसे होगी? तब श्रीगुरु उसे मुक्ति का उपाय बताते हैं किन्तु जिस प्रकार उपाय बताया; उसी प्रकार विश्वास लाकर निश्चय कौन करता है? बतानेवाला गुरु या भूला हुआ शिष्य? जो अपने ज्ञान में भूला हुआ है, वही यथार्थ समझ से भूल को दूर करके अपने ज्ञान में निश्चय करता है।

यह तो मुक्ति का उपाय है, उसकी महिमा को जानना चाहिए। जैसे, कोई हीरा-माणिक की कीमत को जाने और जवाहरात की दुकान पर बैठे तो शीघ्र ही लाखों रुपयों की कमाई करता है और कपड़े को मैल तक नहीं लगता, किन्तु यदि हलवाई की दुकान पर बैठे तो जल्दी कमाई भी नहीं होती और कपड़े को मैल भी लगता है। इसी प्रकार यदि आत्मा के चैतन्यस्वभाव को पहिचान कर उसकी कीमत करे तो मोक्षरूपी आत्मलक्ष्मी झट प्राप्त हो जाती

है। स्वरूप की शक्ति का भान तो हीरों का-सा व्यापार है, उसमें मुक्तिलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है और आत्मा को कर्ममल नहीं लगता। आत्मा की प्रतीति के बिना कभी भी मुक्ति नहीं होती और कर्ममल लग जाता है।

आत्मा के अन्तरङ्ग में से आत्मा के गुणों को ग्रहण किया जा सकता है; इसलिए आत्मा उपादान है, जिसमें से गुण का ग्रहण हो, वह उपादान है। चिदानन्द भगवान आत्मा अपनी अनन्त शक्ति से देह में विराजता है, उसे पहचान कर, उसमें से मुक्ति का माल निकालना है। इस प्रकार यहाँ उपादान का स्वरूप बताया गया है।

अब, निमित्त का स्वरूप बताते हैं - 'है निमित्त पर योग तें' अर्थात् जब आत्मा अपने स्वरूप की पहिचान करता है, तब जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु संयोगरूप में उपस्थित हों, वे निमित्त कहलाते हैं। उपादान-निमित्त का यह सम्बन्ध अनादिकालीन है। सिद्धदशा में भी आत्मा की शक्ति उपादान है और स्थिति में अधर्मद्रव्य; परिणामन में कालद्रव्य इत्यादि निमित्त हैं। उपादान और निमित्त, यह दोनों अनादिकालीन है।

यदि कोई यह माने कि सब मिलकर एक आत्मा ही है और कोई यह माने कि अनन्त आत्माएँ पृथक् हैं किन्तु सबका साध्य तो एक ही है? तो यह बात बिलकुल मिथ्या है। जिसने एक ही आत्मा को माना है, वह उपादान-निमित्त इन दो वस्तुओं को नहीं मानता; इसलिए वह अज्ञानी है और जो यह मानता है कि 'अनन्त आत्माएँ हैं, प्रत्येक भिन्न-भिन्न है, मैं स्वाधीन आत्मा हूँ' उसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लिया है। यह बात गलत

है कि सबका साध्य एक ही है। ज्ञानी-अज्ञानी दोनों के साध्य पृथक्-पृथक् ही हैं।

जब आत्मा अपनी उपादानशक्ति से विपरीत परिणामन करता है, तब कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र इत्यादि निमित्तरूप होते हैं और जब अपनी उपादानशक्ति से सम्यक् परिणामन करता है, तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु निमित्तरूप होते हैं। निमित्त तो परवस्तु की उपस्थितिमात्र है, वह कहीं कुछ करवाता नहीं है; अपनी शक्ति से उपादान स्वयं कार्य करता है। उपादान और निमित्त दोनों अनादि हैं किन्तु निमित्त, उपादान को कुछ देता-लेता नहीं है।

निमित्त का तर्क -

निमित्त कहै मोकों सबै, जानत है जगलोय।

तेरो नाम न जान हीं, उपादान को होय ॥ 4 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि जगत के सभी लोग मुझे जानते हैं और उपादान कौन है? उसका नाम तक नहीं जानते।

दोहा 4 पर प्रवचन

समस्त जगत के लोग निमित्त का नाम जानते हैं। सहारा हो तो बैल चढ़े; खान-पान की अनुकूलता हो तो धर्म हो; मानवदेह हो तो मुक्ति हो, इस प्रकार कार्य निमित्त से होता है - ऐसा समस्त विश्व के जीव मानते हैं और इसीलिए वे निमित्त को जानते हैं परन्तु उपादान को कोई नहीं जानता। सारा संसार यह मानता है कि यदि बाह्य निमित्त ठीक हो तो आत्मा सुखी होता है किन्तु उपादान का तो कोई नाम तक नहीं जानता। इसलिए हे उपादान! व्यर्थ ही बड़ाई क्यों किया करता है? क्या लँगड़ा आदमी बिना

लकड़ी के चल सकता है? लकड़ी का निमित्त आवश्यक है; इसलिए निमित्त का ही बल है। इस प्रकार निमित्त तर्क करता है किन्तु निमित्त का यह तर्क मिथ्या है। लँगड़ा आदमी अपनी योग्यता से चलता है। यदि लकड़ी के कारण चलता तो लकड़ी से मुर्दा भी चलना चाहिए, किन्तु मुर्दे में चलने की योग्यता नहीं है; इसलिए वह नहीं चलता। इसका अर्थ यह है कि उपादान की शक्ति से ही कार्य होता है।

निमित्त कहता है कि यदि आप निमित्त के बल को नहीं मानते तो भगवान की प्रतिमा को क्यों नमस्कार करते हो? वह भी निमित्त है या नहीं? और फिर मुक्ति प्राप्त करने के लिए मानवशरीर तो चाहिए ही? और यदि कान ठीक हों, तभी तो जिनवाणी सुनकर धर्म प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र निमित्त का ही बोलवाला है, दुनिया में किसी से भी पूछो तो सब यही कहेंगे।

इस संवाद से यह सिद्ध हो जाएगा कि निमित्त की ओर से दिये गये उपर्युक्त सभी तर्क तथ्यहीन हैं। निमित्त ने जो कुछ कहा है, वह सब भवभ्रमण करनेवाले जगत के अज्ञानी जीव मानते हैं, वे उपादान को नहीं पहचानते। इस संवाद में उपादान-निमित्त के सिद्धान्त की बात है। उपादान-निमित्त दोनों अनादि-अनन्त हैं; अतः उन दोनों का यथार्थ ज्ञान करने के लिए यह उपदेश है।

अनादि काल से जगत के अज्ञानी जीव यह नहीं जानते कि उपादान कौन है? वे तो निमित्त को ही जानते हैं। छोटा बालक भी कहता है कि अध्यापक हो तो अक्षर सीखे जाएँ, अध्यापक न हो तो कौन सिखाये? किन्तु सच तो यह है कि जो प्रारम्भिक अक्षर

अ-आ इत्यादि सीखता है, वह उसके सीखने की अपनी शक्ति से सीखता है। किसी भैसे इत्यादि में अ-आ इत्यादि सीखने की शक्ति नहीं है; इसलिए वे नहीं सीख सकते। समस्त जगत निमित्त को जानता है; बालक से लेकर मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मुनि से पूछो कि मुक्ति कैसे होती? तो कोई कहेगा कि बाह्य क्रिया से और कोई कहेगा कि पुण्य से मुक्ति होती है किन्तु वे कोई आत्मा की मूल उपादानशक्ति को नहीं जानते। इस प्रकार निमित्त ने अज्ञानियों को अपने पक्ष में रखकर यह युक्ति रखी है।

अब, ज्ञानियों को अपने पक्ष में लेकर उपादान उसका उत्तर देता है -

उपादान कहै रे निमित्त, तू कहा करै गुमान।

मोकों जानें जीव वे, जो है सम्यक्वान ॥ 5 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि हे निमित्त! तू अभिमान किसलिए करता है? जो जीव सम्यग्ज्ञानी हैं, वे मुझे जानते हैं।

दोहा 5 पर प्रवचन

आत्मा के स्वभाव को समझनेवाले ज्ञानियों को अपने पक्ष में रखकर उपादान कहता है कि हे निमित्त! तू अभिमान क्यों करता है? तेरा अभिमान मिथ्या है। जगत के अज्ञानियों का झुण्ड तुझे जानता है तो इसमें तेरी क्या बड़ाई है? किन्तु मुझे तो सभी ज्ञानी जानते हैं। अरे! राख तो घर-घर में हर चूल्हे में होती है; इसलिए राख कीमती नहीं हो जाती और हीरे के व्यापारी थोड़े ही होते हैं; इसलिए हीरे की कीमत कम नहीं हो जाती। इसी प्रकार जगत के बहुत से जीव यह मानते हैं कि दूसरे से काम होता है किन्तु इतने

मात्र से पर से कार्य नहीं हो जाता। उपादानस्वभाव की बात को तो ज्ञानी ही जानते हैं; अज्ञानियों की वहाँ गति नहीं है।

यद्यपि निमित्त से कार्य नहीं होता, तथापि जब जीव स्वयं समझता है, तब सच्चे गुरु का ही निमित्त होता है। गुरु से ज्ञान नहीं होता और गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। सच्चे गुरु के बिना त्रिकाल में भी ज्ञान नहीं हो सकता और त्रिकाल में भी गुरु किसी को ज्ञान नहीं दे सकते। जब जीव अपनी शक्ति से सच्ची पहचान करता है, तब सत्पुरुष की वाणी की ही उपस्थिति होती है किन्तु सत्पुरुष की वाणी से जीव समझता नहीं है। जीव यदि स्वयं नहीं समझता तो वाणी को निमित्त भी नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न - आप कहते हैं कि बिना निमित्त के कार्य नहीं होता और निमित्त से भी नहीं होता, किन्तु इन बातों में से यथार्थ कौन सी है?

उत्तर - दोनों ही यथार्थ हैं क्योंकि निमित्त उपस्थित तो रहता ही है, फिर भी निमित्त से कोई कार्य नहीं होता; इस प्रकार दोनों पहलुओं को समझ लेना चाहिए। जैसे, दो आँखोंवाला आदमी सब कुछ ठीक देखता है, एक आँखवाला अर्थात् काना आदमी सब कुछ ठीक नहीं देख पाता और दोनों आँखों से अन्धा आदमी कुछ भी नहीं देख सकता। इसी प्रकार जो उपादान और निमित्त को, वे जैसे हैं, उसी प्रकार जाने तो सम्यक् जाननेवाला (सम्यग्ज्ञानी) है और जो यह मानता है कि निमित्त नहीं है अथवा निमित्त से कार्य होता है तो उपर्युक्त (काने के) दृष्टान्त की भाँति उसके ज्ञान में भूल है और जो निमित्त-उपादान दोनों

नहीं है; इस प्रकार दोनों को ही नहीं जानता-मानता, वह अन्धे की भाँति बिलकुल ज्ञानहीन हैं।

प्रथम, दोनों आँखों से सब कुछ ठीक देख-जानकर, पश्चात् मुख्य पदार्थ की ओर की एकाग्रता के लिए दूसरे पदार्थ की ओर से आँख बन्द कर ले तो वह ठीक है। इसी प्रकार पहले उपादान-निमित्त को ठीक जानकर, पश्चात् उपादानस्वरूप में एकाग्रता करने के लिए निमित्त का लक्ष्य छोड़ देना ठीक है किन्तु पहले उपादान-निमित्त को, वे जैसे हैं, उसी प्रकार यथार्थरूप से समझ लेना चाहिए।

जब जीव, निज आत्मस्वभाव की प्रतीति करता है, तब निमित्त होता है; इस प्रकार ज्ञान करने के लिए दोनों हैं किन्तु आदरणीय दोनों नहीं हैं। आदरणीय तो उपादान है और निमित्त हेय है। उपादान की शक्ति से कार्य होता है। जो सम्यग्ज्ञानी हैं अर्थात् आत्मा को पहचाननेवाले हैं, वे ही उपादान की शक्ति को जानते हैं।

निमित्त कहता है कि -

कहैं जीव सब जगत के, जो निमित्त सोई होय।

उपादान की बात को, पूछे नहीं कोय॥६॥

अर्थ - जगत के सब जीव कहते हैं कि जैसा निमित्त होता है, वैसा ही कार्य होता है। उपादान की बात को तो कोई पूछता तक नहीं है।

दोहा 6 पर प्रवचन

निमित्त अपनी बलवत्ता बताने के लिए कहता है कि यदि अनुकूल / ठीक निमित्त हो तो काम हो; रोटी मिले तो जीवन रहे;

मानवदेह मिले तो मुक्ति हो; काल ठीक हो तो धर्म हो; इस प्रकार सारी दुनियाँ कहती है किन्तु यह कौन कहता है कि मनुष्यशरीर के बिना मुक्ति होती है? इसलिए देखो, शरीर के निमित्त से ही काम होता है न? और यदि आप निमित्त से कुछ होना नहीं मानते हो तो भगवान की प्रतिमा को क्यों मानते हो? इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त ही बलवान है।

निमित्त का यह तर्क ठीक नहीं है। मिथ्यात्व को जीतनेवाले जैन, स्वतन्त्र वस्तुस्थिति को मानते हैं; भगवान की प्रतिमा के कारण अथवा उस ओर के राग के कारण धर्म नहीं मानते। प्रतिमा की ओर का जो शुभराग है, वह अशुभराग से बचने के लिए है। जैन अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव, राग से या पर से कदापि धर्म नहीं मानते; जैन तो आत्मस्वभाव से धर्म मानते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव, आत्मस्वभाव की प्रतीति होने पर जब शुद्धस्वभाव के अनुभव में स्थिर नहीं रह सकता, तब अशुभराग को छोड़कर उसे शुभराग आता है और उस काल में उपस्थित वीतराग प्रतिमा निमित्तरूप होती है। जीव स्वयं अशुभभाव से बचता है, इतना उसे लाभ है किन्तु यदि प्रतिमा से अथवा अवशिष्ट राग से आत्मा को लाभ माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। जब सम्यग्दृष्टि को शुभराग होता है, तब उसमें प्रतिमा निमित्तरूप होती है, यह न जाने तो भी वह मिथ्यादृष्टि है। इसमें निमित्त का ज्ञान करने की बात है किन्तु यह नहीं है कि निमित्त से कोई कार्य होता है।

आत्मस्वरूप की पहचान के बाद, जब तक स्वरूप में पूर्ण लीनता न हो अर्थात् वीतरागता न हो, वहाँ तक बीच में शुभराग

आये बिना नहीं रहता और शुभराग के निमित्त भी होते ही हैं किन्तु जैन सम्यक्त्वी, राग से अथवा निमित्त से धर्म नहीं मानते। जो राग या निमित्त से धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

निमित्त कहता है कि भले ही सम्यक्त्वी राग से या निमित्त से धर्म नहीं मानते, किन्तु यदि सामने सुई पड़ी हो तो सुई का ज्ञान होगा या कैंची का? अथवा सामने आदमी का चित्र देखकर आदमी का ज्ञान होगा या घोड़े का? सामने जैसा निमित्त होगा, वैसा ही तो ज्ञान होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि निमित्त से ही ज्ञान होता है; इसलिए निमित्त को ही बलवान मानना होगा। निमित्त का यह तर्क है। वस्तुतः निमित्त का कथन बहुत लम्बा है। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि जो भी होता है, वह निमित्त से ही होता है।

उपादान को जाननेवाले ज्ञानी कहते हैं कि निमित्त से ज्ञान होता ही नहीं; ज्ञान तो उपादान की शक्ति से ही होता है, अपनी स्मृति से होता है। सुई को देखने से अपने ज्ञान में ही जानने का कार्य हुआ है। यदि सुई से ज्ञान होता हो तो अन्धे आदमी के सामने सुई रखने पर उसे तत्सम्बन्धी ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि अन्धे में वह शक्ति ही नहीं है। सुई तो जड़ है, जड़ में से ज्ञान नहीं आता। अज्ञानी की दृष्टि, परनिमित्त पर होने से वह स्वाधीन ज्ञान को नहीं जानता; इसलिए वह मानता है कि पर के कारण ज्ञान हुआ है।

अज्ञानी, उपादानस्वरूप की बात भी नहीं पूछते। वे मानते हैं कि क्या चावल बिना अग्नि के पक सकते हैं? कदापि नहीं। इस प्रकार अग्नि से चावल पकते हैं, यह अन्धदृष्टि से दिखाई देता है

किन्तु स्पष्टदृष्टि से तो चावल, चावल से ही पके हैं। पाकरूप अवस्था चावल में ही हुई है; अग्नि में नहीं। चावल में स्वयं ही पकने की शक्ति है; इसलिए वे पके हैं, वे अग्नि अथवा पानी से नहीं पके। इसी प्रकार रोटी भी स्वयं पकी है, अग्नि अथवा तवे से नहीं पकी है।

निमित्त अपनी युक्ति को रखता हुआ कहता है - हे उपादान! जगत में यह कौन कहता है कि रोटी स्वयं पकी है, अग्नि से रोटी नहीं पकी? तू समस्त विश्व से पूछकर देख! 'गेहूँ के परमाणुओं की जब पक्की अवस्था होना थी, तब अग्नि और तवा भी मौजूद था किन्तु उससे रोटी नहीं बनी'; इस प्रकार की तेरी लम्बी-लम्बी बातें जगत में कौन करता है? सीधी और स्पष्ट बात तो यह है कि अग्नि से रोटी पकी है, भला! इसमें क्या पूछना है?; इसलिए यह बात गलत है कि उपादानशक्ति से ही कार्य होता है।

उपादान उत्तर देता है -

उपादान बिन निमित्त तू, कर न सके इक काज।

कहा भयौ जग ना लखै, जानत हैं जिनराज ॥ 7 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि अरे निमित्त! एक भी कार्य बिना उपादान के नहीं हो सकता, इसे जगत् नहीं जानता तो क्या हुआ? जिनराज तो इस तथ्य को जानते हैं।

दोहा 7 पर प्रवचन

उपादान, जिनराज को अपने पक्ष में रखकर कहता है कि हे निमित्त! तू रहने दे! जगत के प्रत्येक पदार्थ का कार्य अपनी शक्ति से ही हो रहा है; कोई पर उसे शक्ति नहीं देता। यदि जीव इस प्रकार

के स्वरूप को समझे तो उसे अपने भाव की ओर देखने का अवकाश (-अवसर) रहे और अपने भाव में दोषों को दूर करके गुण ग्रहण करे, किन्तु यदि 'कर्म मुझे हैरान करते हैं और सद्गुरु मुझे तार देंगे,' इस प्रकार निमित्त से कार्य का होना मानेगा तो उसमें कहीं भी स्वयं तो आया ही नहीं, उसमें अपनी ओर देखने का अवकाश ही नहीं रहा और केवल पराधीन दृष्टि रह गई।

रोटी, अग्नि से नहीं पकी, किन्तु उसमें स्वयं में ही यह विशेषता है कि वह पकी है। अग्नि और तवे के होने पर भी कहीं रेत नहीं पकती, क्योंकि उसमें वैसी शक्ति नहीं है। जो पक्व पर्याय हुई है, वह रोटी की हुई है या तवे की? रोटी स्वयं उस पर्यायरूप हुई है; इसलिए रोटी स्वयं पकी है।

यदि शिष्य के उपादान में ही समझने की शक्ति न हो तो गुरु क्या करेंगे? श्रीगुरु भले ही लाख प्रकार से समझायें, किन्तु शिष्य को अपनी शक्ति के बिना समझ में नहीं आ सकता; इसलिए उपादान के बिना एक भी कार्य नहीं हो सकता।

निमित्त ने कहा था कि जगत के प्राणी उपादान की बात भी नहीं जानते। उपादान कहता है कि जगत के अन्ध प्राणी उपादान के स्वरूप को नहीं समझते तो क्या हुआ; त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर तो मुझे जानते हैं। जगत के बहुत से अन्धे तुझे मानते हैं तो उससे तुझे क्या लाभ हुआ? मुझे तो एक त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ही बस हैं। हजारों भेड़ों के सामने एक सिंह ही पर्याप्त है। जहाँ सिंह आता है, वहाँ सभी गाडरें (भेड़ें) पूँछ दबाकर भाग जाती हैं; इसी प्रकार

जगत के अनन्त जीवों का यह अभिप्राय है कि 'निमित्त से काम होता है' किन्तु वे सब अज्ञानी हैं; इसलिए उनका अभिप्राय यथार्थ नहीं है और 'उपादान की शक्ति से ही सर्व कार्य होते हैं' - यह माननेवाले जीव थोड़े ही हैं, तथापि वे ज्ञानी हैं, उनका अभिप्राय सच है। सत्य का संख्या के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

संवत् छप्पन के अकाल में पशुओं में खड़े रहने की भी शक्ति नहीं रही थी। यदि उन्हें सहारा देकर भी खड़ा किया जाता तो भी वे गिर पड़ते थे। जहाँ भूखे पशु में स्वयं में ही खड़े रहने की शक्ति न हो, वहाँ बाह्य आधार के बल से उन्हें कैसे खड़ा रखा जा सकता है? यदि उपादान में ही शक्ति न हो तो किसी निमित्त के द्वारा कार्य नहीं हो सकता।

आत्मा के स्वभाव से ही आत्मा के सब काम होते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम स्वयं करने से होते हैं। स्वयं जैसे परिणाम करे, वैसे होते हैं। दूसरे जीवों का आशीर्वाद मिल जाए तो भला हो और पुण्य का समुद्र फटकर आत्मा की मुक्ति हो जाए - यह बात गलत है क्योंकि आत्मा का कार्य पराधीन नहीं है।

भगवान की साक्षात् उपस्थिति भी जीव को तारने के लिए समर्थ नहीं है और सिरच्छेद करनेवाला शत्रु भी डुबाने में समर्थ नहीं है। 'प्रत्येक पदार्थ सदा भिन्न है, मैं भिन्न आत्मा हूँ और तू भिन्न आत्मा है; मैं तेरा कुछ भी नहीं कर सकता, तू अपने भाव से समझे तो तेरा कल्याण हो'; इस प्रकार भगवान तो स्वतन्त्रता की घोषणा करके सदा उपादान पर उत्तरदायित्व डालते हैं। भाई! उपादान की जागृति के बिना कदापि कल्याण नहीं होता।

निमित्त कहता है कि -

देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन आगम सार।

इह निमित्त से जीव सब, पावत है भवपार ॥ 8 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि जिनेश्वरदेव, निर्ग्रन्थगुरु और वीतराग का आगम उत्कृष्ट है, इन निमित्तों के द्वारा सभी जीव, भव का पार पाते हैं।

काव्य 8 पर प्रवचन

जिनेश्वरदेव श्री सर्वज्ञ भगवान को माने बिना कदापि आत्मा की मुक्ति नहीं होती। किसी कुदेवादि को मानने से मुक्ति नहीं होती; इसलिए पहले जिनेश्वरदेव को पहिचानना चाहिए; इस प्रकार पहले निमित्त की आवश्यकता आ ही जाती है क्योंकि निमित्त की आवश्यकता होती है; इसलिए पचास प्रतिशत मेरी सहायता से कार्य होता है - यह निमित्त का तर्क है।

जब जीव अपना कल्याण करता है, तब निमित्त के रूप में श्री जिनेश्वरदेव ही होते हैं; उनके अतिरिक्त कुदेवादि तो निमित्तरूप भी कदापि नहीं होते। इतना तो सत्य है किन्तु जिनेश्वरदेव, आत्मा का कल्याण कर देते हैं अथवा पचास प्रतिशत सहायता करते हैं - यह बात ठीक नहीं है।

सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु और त्रिलोकीनाथ परमात्मा के मुख से निकली हुई ध्वनि अर्थात् आगमसार - इन तीन निमित्तों के बिना मुक्ति नहीं होती। यहाँ पर 'आगमसार' कहा है; इसलिए आगम के नाम पर दूसरी अनेक पुस्तकें प्रचलित हैं, उनकी यहाँ पर बात नहीं है किन्तु सर्वज्ञ की वाणी से परम्परागत आये हुए

सत्शास्त्रों की बात है। अन्य कोई कुदेव, कुगुरु अथवा कुशास्त्र तो सत् के निमित्त भी नहीं हो सकते; सच्चे देवादि ही सत् के निमित्त हो सकते हैं, इतनी बात तो बिल्कुल सच है। उसी को पकड़कर निमित्त कहता है कि भाई उपादान! अपने ही एकान्त को नहीं खींचना चाहिए, कुछ निमित्त का भी विचार करना चाहिए अर्थात् यह कहना चाहता है कि निमित्त भी सहायक होता है।

निमित्त के तर्क का एक अंश इतना सत्य है कि आत्मकल्याण में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्तरूप में होते हैं; उनकी उपस्थिति के बिना त्रिकाल में भी कोई मुक्ति नहीं पा सकता। सभी मार्ग समान हैं - ऐसा माननेवाला तो तीन काल और तीन लोक में सम्यग्दर्शन को नहीं पा सकता; प्रत्युत वह मिथ्यात्व के महापाप की पुष्टि करता है। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ वीतरागदेव, साधक सन्त-मुनि और सर्वज्ञ की वाणी ही आत्मकल्याण में निमित्त होती है, इतना तो सत्य है किन्तु उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। वह आत्महित में कारक नहीं है, कल्याण तो आत्मा स्वयं स्वतः समझे तभी होता है।

समझने की शक्ति तो सभी आत्माओं में त्रिकाल है। जब उस शक्ति की सँभाल करके आत्मा समझता है, तब निमित्त के रूप में परवस्तु सच्चे देव इत्यादि ही होते हैं। कुदेवादि को माननेवाले को सच्ची समझ नहीं हो सकती - इस बात को आगे रखकर निमित्त कहता है कि पहले मेरी ही आवश्यकता है, मुझसे ही कल्याण होता है।

इस तर्क का खण्डन करता हुआ उपादान कहता है कि -
 यह निमित्त इस जीव के, मिल्यो अनन्तीवार।
 उपादान पलट्यो नहीं, तो भटक्यो संसार ॥ 9 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि ये निमित्त तो इस जीव को अनन्त बार मिले हैं किन्तु उपादान अर्थात् जीव, स्वयं नहीं बदला; इसलिए वह संसार में भटकता रहा।

दोहा 9 पर प्रवचन

यदि देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त, आत्मकल्याण कर देता हो तो यह जीव साक्षात् त्रिलोकीनाथ के पास अनन्त बार गया, फिर भी समझे बिना ज्यों का त्यों वापिस आ गया। उपादान अपनी शक्ति से नहीं समझा। भगवान कोई अपूर्व स्वरूप कहते हैं, इस प्रकार परमार्थ को समझने की चिन्ता नहीं की और स्वयं मानी हुई व्यवहार की बात के आने पर यह मान लेता है कि मैं यही कहता था और यही भगवान ने कहा है; इस प्रकार अपने गज (नाप) से भगवान का नाप करके विपरीत पकड़ को ही दृढ़ करता है। निमित्त भले ही सर्वोत्कृष्ट हो, तथापि उपादान न बदले तो उसे सत् समझ में नहीं आता। अनन्त बार सच्चे रत्नादिक की सामग्री को जुटाकर साक्षात् तीर्थङ्कर की पूजा की, किन्तु निमित्त के अवलम्बन से रहित अपने स्वाधीनस्वरूप को नहीं समझा; इसलिए धर्म नहीं हुआ, इसमें तीर्थङ्कर क्या करें!

सच्चे ज्ञानीगुरु और सत् शास्त्र भी अनन्त बार मिले, किन्तु स्वयं अन्तरङ्गस्वभाव समझकर अपनी दशा को नहीं बदला; इसलिए जीव, संसार में ही भटकता रहा।

निमित्त ने कहा था कि देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त पाकर, जीव भवपार हो जाता है, उसके विरोध में उपादान ने कहा कि उपादान अर्थात् जीव स्वयं धर्म को नहीं समझा तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के मिलने पर भी संसार में परिभ्रमण करता है। यदि जीव स्वयं सत् को समझ ले तो देव-गुरु-शास्त्र को समझने का निमित्त कहा जाए, किन्तु यदि जीव समझे ही नहीं तो वे निमित्त कैसे कहे जा सकते हैं?

यदि उपादान स्वयं कार्यरूप हो तो प्रस्तुत वस्तु को निमित्त कहा जा सकता है किन्तु उपादान स्वयं कार्यरूप में हो ही नहीं तो निमित्त भी नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक लट में तेल डालकर मस्तक सुन्दर बनाया, यह तभी तो कहा जाएगा, जब मस्तक में बाल की लटें हों, किन्तु यदि सिर में बाल ही न हों तो उपमा कहाँ लगेगी? इसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु को 'निमित्त' की उपमा तभी दी जा सकती है, जब उपादान स्वयं जागृत होकर समझे; किन्तु यदि उपादान ही न हो तो निमित्त किसका कहलायेगा? इसलिए कार्य तो उपादान के ही आधीन होता है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त के बिना कदापि सत्य नहीं समझा जा सकता, किन्तु इसमें अपनी समझने की तैयारी हो, तब देव-गुरु-शास्त्र को ढूँढने के लिये जाना पड़े, उपादान ऐसा पराधीन नहीं है। हाँ, ऐसा नियम अवश्य है कि जहाँ अपनी तैयारी होती है, वहाँ निमित्त का योग अवश्य होता ही है। धर्मक्षेत्र / महाविदेह में बीस महा धर्मधुरंधर तीर्थङ्कर तो सदा विद्यमान होते हैं; महाविदेह में तीर्थङ्कर न हों, यह कदापि नहीं हो सकता। यदि

अपनी तैयारी हो तो चाहे जहाँ सत् निमित्त का योग मिल ही जाता है और यदि अपनी तैयारी न हो तो सत् निमित्त का योग मिलने पर भी सत् का लाभ नहीं होता।

यहाँ पर संवाद में निमित्त की ओर से तर्क करनेवाला जीव ऐसा लिया है जो सयाना है, समझने के लिए तर्क करता है और जो अन्त में उपादान की सब यथार्थ बातों को स्वीकार करेगा; वह ऐसा हठाग्रही नहीं है कि अपनी ही बात को खींचता रहे। यहाँ पर ऐसे ही जीव की बात है, जो सत्य-असत्य का निर्णय करके सत्य को तत्काल ही स्वीकार करता है।

देहादि की क्रिया से मुक्ति होती है अथवा पुण्य से धर्म होता है; इस प्रकार जीव ने अपनी विपरीत मान्यता बना रखी है - ऐसी स्थिति में भगवान के पास जाकर उनका उपदेश सुनकर भी, जीव को धर्म का किञ्चित्मात्र भी लाभ नहीं हुआ। भगवान तो कहते हैं कि आत्मा, देह की क्रिया कर ही नहीं सकता और पुण्य, विकार है; उससे आत्मधर्म नहीं हो सकता, यह बात उसके ज्ञान में नहीं जमी। यदि स्वयं समझे तो लाभ हो और तब भगवान इत्यादि को निमित्त कहा जाए। सच्चे निमित्त के बिना ज्ञान नहीं होता, किन्तु सच्चे निमित्त के होने पर भी स्वयं न समझे तो ज्ञान नहीं होता। तात्पर्य यह है कि निमित्त से ज्ञान नहीं होता तो फिर निमित्त ने क्या किया? यह तो मात्र उपस्थित रहकर अलग रहा।

सामान्यतया लोग अनेक बार कहा करते हैं कि 'मैंने तो उसे बहुत कहा, किन्तु वह ठप्प हो गया है' अर्थात् मेरे कहने का उस पर किञ्चित्मात्र भी असर नहीं हुआ। किन्तु अरे भाई! यदि वह

मानता है तो अपने भाव से मानता है और यदि नहीं मानता है तो अपने भाव से वैसा करता है; किसी पर किसी का कोई असर होता ही नहीं है। निमित्त और उपादान दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

जीव को समझने के निमित्त अनन्त बार मिले, तथापि उपादानशक्ति से स्वयं नहीं समझा; इसलिए संसार-परिभ्रमण किया। इससे सिद्ध होता है कि निमित्त का कोई असर उपादान पर नहीं है।

यहाँ उपादान-निमित्त का संवाद चल रहा है। यहाँ तक 09 दोहों की व्याख्या की जा चुकी है। उपादान का अर्थ क्या है? जो अपने स्वभाव से काम करे, सो उपादान है और उस काम के समय साथ ही दूसरी वस्तु उपस्थित हो, वह निमित्त है। उपादान और निमित्त दोनों जैसे हैं, उनका वैसा ही निर्णय करना भी एक धर्म है। धर्म दूसरे भी हैं, अर्थात् सच्चे निर्णयपूर्वक राग-द्वेष को दूर करके स्थिरता करना, सो दूसरा चारित्रधर्म है। आत्मवस्तु में अनन्त धर्म हैं। धर्म अर्थात् स्वभाव। आत्मा का जो भाव, संसार के विकारभाव से बचकर अविकारीस्वभाव को धारण करता है, वह आत्मा का धर्म है; इसलिए स्वभाव को समझना ही प्रथम धर्म है।

जो जीव, स्वभाव को नहीं समझता, उसे जन्म-मरण के नाश का और मुक्तिदशा के प्रगट होने का लाभ नहीं मिलता। जो स्वाधीनस्वभाव को नहीं समझते - ऐसे अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि यदि दूसरी वस्तु हो तो आत्मा का कल्याण हो, उनका निर्णय ही उल्टा है; उन्हें आत्मकल्याण के सच्चे उपाय का पता नहीं है।

जब आत्मकल्याण की भावनावाला जीव, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करता है, तब सच्चे देव

-शास्त्र और गुरु की निमित्तरूप उपस्थिति होती है किन्तु वे देव-गुरु-शास्त्र, आत्मा का ज्ञान नहीं करा देते। यदि स्वयं अपने ज्ञान से यथार्थ समझ सके तो समझा जा सकता है। बिना ज्ञान के छह-छह महीने तक उपवास किये, फिर भी सच्ची समझ नहीं हो पायी, इसलिए आत्मकल्याण नहीं हुआ।

प्रश्न - यह सब सूक्ष्म बातें हमारे किस काम की ?

उत्तर - यह आत्मा की बातें हैं। आत्मकल्याण करना हो तो यह जान लेना चाहिए कि कल्याण कहाँ होता है और कैसे होता है ? अपना कल्याण अपने ही स्वभाव की शक्ति से होता है; पर से नहीं होता। यदि अपने स्वभाव को समझ ले तो सच्ची श्रद्धा का लाभ हो और विपरीत श्रद्धा से होनेवाली महाहानि दूर हो, यही सर्व प्रथम कल्याण है।

‘आत्मा का निर्णय, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु से प्रगट होता है’ - जब यह कहा, तब उपादान ने उसका उत्तर दिया कि भाई! यह निमित्त तो अनन्त बार जीव को मिले हैं किन्तु स्वयं स्वभाव की महिमा लाकर असङ्ग आत्मतत्त्व का निर्णय नहीं किया; इसलिए संसार में परिभ्रमण करता रहा है। तात्पर्य यह है कि कोई निमित्त, आत्मा को लाभ नहीं करता।

हे भाई! यदि परनिमित्त से आत्मा को धर्म होता है - ऐसी परद्रव्याश्रित दृष्टि करोगे तो परद्रव्य तो अनन्त-अपार हैं; उनकी दृष्टि में कहीं भी अन्त नहीं आयेगा अर्थात् अनन्त परपदार्थ की दृष्टि छूटकर, स्वभाव को देखने का अवसर कभी भी नहीं आयेगा।

मैं परद्रव्यों से भिन्न हूँ, मुझ में पर का प्रवेश नहीं है, मेरा

कल्याण मुझ से ही है — ऐसी स्वाधीन द्रव्यदृष्टि करने पर अनन्त परद्रव्यों से दृष्टि छूट जाती है और स्वभावदृष्टि की दृढ़ता होती है तथा स्वभाव की ओर की दृढ़ता कल्याण का मूल है। परवस्तु, तीन काल और तीन लोक में हानि-लाभ करने के लिए समर्थ नहीं है। यदि जीव अपने भाव में स्वयं विपरीत रहे तो परिभ्रमण करता है और यदि सम्यक् हो तो मुक्त हो जाता है।

प्रश्न - पैसा, शरीर इत्यादि जो हमारे हैं, वे तो हमें लाभ करते हैं या नहीं ?

उत्तर - भाई! मूल सिद्धान्त में ही अन्तर है। पैसा इत्यादि तुम्हारे हैं ही नहीं; पैसा और शरीर तो जड़ है, अचेतन है, पर है। आत्मा चैतन्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। जड़ और चेतन दोनों वस्तुएँ त्रिकाल भिन्न ही हैं, कोई एक दूसरे की है ही नहीं। पैसा इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं, वे आत्मा के सहायक नहीं हो सकते, किन्तु सच्चा ज्ञान आत्मा का अपना होने से आत्मा की सहायता करता है। पैसा, शरीर इत्यादि कोई भी वस्तु आत्मा के धर्म का साधन तो है ही नहीं, साथ ही उससे आत्मा को पुण्य-पाप भी नहीं होते। ‘पैसा मेरा है’ - ऐसा ममत्वभाव तो अज्ञान है, पाप है और यदि उस ममत्व को कम करे तो उस भाव से पुण्य होता है। पैसे के कारण पाप या पुण्य नहीं है। पैसा मेरा है और मैं उसे रखूँ - ऐसा ममत्वरूप भाव तो महापाप है। वास्तव में यदि ममत्व को कम करे तो दान इत्यादि शुभकार्यों में लक्ष्मी को व्यय करने का भाव हुए बिना न रहे। यहाँ पर तो निमित्त-उपादान के स्वरूप को समझने का अधिकार चल रहा है।

निमित्त की ओर से तर्क करनेवाला जीव, शास्त्रों का ज्ञाता है, शास्त्रों की कुछ बातें उसने जानी हैं; इसलिए उन बातों को उपस्थित करके वह तर्क करता है। जिसने हिसाब लिखा हो, उसे बीच में कुछ पूछना होता है और वह प्रश्न कर सकता है किन्तु जिसने अपनी स्लेट कोरी रखी हो और कुछ भी न लिखा हो तो वह क्या प्रश्न करेगा? इसी प्रकार जिसने कुछ शास्त्राभ्यास किया हो अथवा शास्त्र श्रवण करके कुछ बातों को समझा हो तो वह तर्क उपस्थित करके प्रश्न कर सकता है किन्तु जिसने शास्त्र को खोला ही न हो और क्या चर्चा चल रही है, इसकी जिसे खबर ही न हो तो वह क्या प्रश्न करेगा?

यहाँ पर शिष्य, शास्त्र पढ़कर प्रश्न करता है कि हे उपादान! तुम कहते हो कि आत्मा का धर्म अपने उपादान से ही होता है; निमित्त कुछ नहीं करता, किन्तु भव्य जीवों को जो क्षायिकसम्यक्त्व होता है, वह तो केवली-श्रुतकेवली के सान्निध्य में ही होता है, यह तो शास्त्रों में कहा है, तब वहाँ निमित्त को जोर आया या नहीं?

निमित्त इस प्रकार का तर्क उपस्थित करता है -

कै केवलि कै साधु के, निकट भव्य जो होय।

सो क्षायक सम्यक् लहै, यह निमित्त बल जोय ॥ 10 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि यदि केवली भगवान अथवा श्रुतकेवली मुनि के पास भव्यजीव हो तो क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट होता है, यह निमित्त का बल देखा!

दोहा 10 पर प्रवचन

यहाँ पर तर्क उपस्थित करते हुए निमित्त की भाषा लूली

मालूम होती है, 'आसन्न भव्य जीव हो तो ही क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट होता है' - यहाँ ऐसी 'भव्य जीव के' कहते ही उपरोक्त तर्क के शब्दों में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि योग्यता उस जीव की अपनी ही है; इसलिए क्षायिकसम्यक्त्व को प्राप्त करता है - यह बात तर्क के शब्द में ही आ जाती है।

क्षायिकसम्यक्त्व, आत्मा की वह सम्यक्प्रतीति है कि जो केवलज्ञान को लेकर ही रहती है अर्थात् वह ऐसी आत्मप्रतीति है, जो कभी पीछे नहीं रहती। राजा श्रेणिक पहले नरक से निकलकर भावी चौबीसी के प्रथम तीर्थङ्कर होंगे, उन्हें ऐसा क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि को आत्मा की अति दृढ़ श्रद्धा होती है। वह श्रद्धा ऐसी दृढ़ होती है कि तीन लोक बदल जाएँ और इन्द्र उसे डिगाने के लिए उतर आये तो भी उसकी श्रद्धा नहीं बदलती। उसे अप्रतिहत श्रद्धा होती है, वह चौदह ब्रह्माण्ड से हिलाया नहीं हिलता और त्रिलोक में उथल-पुथल हो जाए तो भी मन में भय-सन्देह नहीं लगता - ऐसा निश्चल सम्यक्त्व ही क्षायिकसम्यक्त्व है।

निमित्त का वकील तर्क करता है कि राजा श्रेणिक, भरत चक्रवर्ती इत्यादि को केवली भगवान के निकट ही क्षायिकसम्यक्त्व हुआ था, देखो यह है निमित्त का जोर! शास्त्रों में लिखा है कि तीर्थङ्कर भगवान, केवली भगवान अथवा श्रुतकेवली (जिन शासन के बाह्य और अन्तरङ्ग श्रुतज्ञान में परिपूर्ण मुनिराज) जहाँ विराजित हों, वहाँ उनके चरणकमल में ही क्षायिकसम्यक्त्व होता है, उनके अभाव में नहीं होता; इसलिए निमित्त ही बलवान है, अन्य निमित्त हों तो क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता। हे उपादान! यदि तेरी

ही शक्ति से काम होता तो तीर्थङ्करादि के अभाव में क्षायिकसम्यक्त्व क्यों नहीं होता ? निमित्त नहीं है; इसलिए नहीं होता अर्थात् निमित्त ही बलवान है। इस प्रकार निमित्त का तर्क है। यह तर्क क्यों गलत है, वह आगे के दोहे में बताया जाएगा।

तीर्थङ्कर केवली अथवा श्रुतकेवली के समीप ही सब जीवों को क्षायिकसम्यक्त्व होता है, ऐसा एकान्त नहीं है। कई जीव स्वयं श्रुतकेवली होकर स्वतः क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट करते हैं, तब क्षायिकसम्यक्त्व निमित्त के बल से हुआ या उपादान के बल से ? इसे समझने में निमित्त पक्ष ने जो भूल की है, वह आगे बतायी जाएगी।

प्रथम, एक बार स्वयं योग्य होकर सत् निमित्त के समीप सत् का श्रवण किया हो, किन्तु उस समय सम्यक्त्व प्राप्त न किया हो तो भी बाद में सत् निमित्त समीप न होने पर भी जीव स्वयं अन्तरङ्ग से जागृत होकर उपशम-क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है परन्तु क्षायिकसम्यक्त्व तो निमित्त की उपस्थिति में ही होता है। साक्षात् तीर्थङ्कर की सभा हो और तत्त्वों के गम्भीर न्याय की एक धारा प्रवाहित हो रही हो, उसे सुनने पर जीव को स्वभाव की परम महिमा जागृत होती है। अहाहा! ऐसा परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूपी भगवान मैं! एक विकल्प का अंश भी मेरा स्वरूप नहीं है! मैं स्वतन्त्र स्वाधीन परिपूर्ण हूँ; इस प्रकार अन्तर से निज आत्मस्वभाव की अप्रतिहत प्रतीति जागृत होने पर जीव को क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है। वहाँ तीर्थङ्कर केवली अथवा श्रुतकेवली निमित्त हैं; इसलिए निमित्त यह कहता है कि आत्मा को क्षायिकसम्यक्त्व में निमित्त सहायक होना ही चाहिए - यह मेरा बल है।

इसके उत्तर में उपादान कहता है कि -

**केवलि अरु मुनिराज के, पास रहे बहु लोय।
पै जाको सुलट्यो धनी, क्षायिक ताकों होय ॥ 11 ॥**

अर्थ - उपादान कहता है कि केवली और श्रुतकेवली भगवान के पास बहुत से लोग रहते हैं किन्तु जिसका धनी अर्थात् आत्मा, सुलटा होता है, उसी को क्षायिकसम्यक्त्व होता है।

दोहा 11 पर प्रवचन

उपादान, निमित्त से कहता है कि अरे! सुन, सुन!! केवली भगवान और उस भव में मोक्ष जानेवाले श्रुतकेवलियों के निकट तो बहुत से लोग रहते हैं, बहुत से जीव साक्षात् तीर्थङ्कर के अति निकट जा आये, किन्तु उन सबको क्षायिकसम्यक्त्व नहीं हुआ। जिसका आत्मा स्वयं सुलटा हुआ, वह स्वयं अपनी शक्ति से क्षायिकसम्यक्त्व पा गया और जिसका आत्मा स्वयं सुलटा नहीं हुआ, वह क्षायिकसम्यक्त्व नहीं पा सका। इससे सिद्ध हुआ कि उपादान से ही क्षायिकसम्यक्त्व होता है; निमित्त से नहीं।

जो जीव, धर्म को समझते हैं, वे अपने पुरुषार्थ से समझते हैं। जिनके यहाँ त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर जन्म लेते हैं, वे माता-पिता मोक्षाधिकारी होते ही हैं, तथापि वे अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त करते हैं। कुल के कारण अथवा तीर्थङ्कर भगवान के कारण मोक्ष नहीं पाते।

तीर्थङ्कर भगवान की सभा में तो बहुत से जीव अनेक बार गये, किन्तु जो स्वयं कुछ नहीं समझे, वे कोरे के कोरे वापिस आ गये। एक भी यथार्थ बात को अन्तर में नहीं बिठाया और जैसा

गया था, वैसा ही अज्ञानता से वापिस आ गया। इतना ही नहीं, किन्तु कई जीव तो अपनी विपरीतबुद्धि के कारण यह तर्क करते हैं कि जो यह कहते हैं, क्या यही एक मार्ग है और जगत के समस्त मार्ग व्यर्थ हैं / गलत हैं ?

भगवान की सभा में उपशम-क्षयोपशमसम्यक्त्वी जीव होते हैं, वे भी यदि दृढ़ पुरुषार्थ के द्वारा स्वयं क्षायिकसम्यक्त्व करें, तब ही होता है और बहुत से स्वयं नहीं करते; इसलिए उन्हें नहीं होता। तात्पर्य यह है कि निमित्त का बल है ही नहीं। यदि निमित्त में कोई शक्ति होती तो जो भगवान के पास गये, उन सबको क्षायिकसम्यक्त्व क्यों नहीं हुआ? समवसरण में जो जीव, भगवान के पास जाते हैं, वे सभी समझ ही जाते हों - ऐसी बात नहीं है किन्तु जिसका धनी अर्थात् आत्मा, समझकर सुलटा होता है, उसे ऐसी आत्मप्रतीति प्रगट होती है कि जो फिर कभी पीछे नहीं हटती।

अहो! परम महिमावन्त परिपूर्ण आत्मस्वभाव! इस स्वभाव का अवलोकन करते-करते ही केवलज्ञान होता है। जो जीव, सुलटा होकर ऐसी दृढ़ प्रतीति करता है, उसी के होता है किन्तु जो भगवान की वाणी को सुनकर भी सुलटा नहीं होता, उसे सम्यक्त्व नहीं होता। इससे सिद्ध है कि निमित्त का कोई बल नहीं है। जिसके अपने पैरों में शक्ति नहीं है, वह दूसरे के आधार पर कैसे खड़ा रह सकता है? इसी प्रकार अपनी आत्मा की शक्ति के बिना, यथार्थ समझ के बिना, साक्षात् भगवान के पास जाकर भी अपने भीतर में विशेष स्वच्छन्दी हुआ; इसलिए सच्चा ज्ञान नहीं हुआ। इसलिए

भगवान के पास जाने से क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु वह अपने उपादान की जागृति से ही होता है।

अब, निमित्त प्रकारान्तर से कहता है -

हिंसादिक पापन किये, जीव नर्क में जाहिं।

जो निमित्त नहिं काम को, तो इस काहे कहाहिं ॥ 12 ॥

अर्थ - अब, निमित्त कहता है कि यदि निमित्त कार्यकारी न हो तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि हिंसादिक पाप करने से जीव नरक में जाता है ?

दोहा 12 पर प्रवचन

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहादि पापभाव से जीव नरक में जाता है; इसलिए निमित्त का ही बल है। हिंसा में परजीव की, झूठ में भाषा की, परिग्रह में परवस्तु की, चोरी में रुपया-पैसा की और कुशील में शरीरादि निमित्तों की जरूरत पड़ती है या नहीं? इससे स्पष्ट है कि निमित्त ही नरक में ले जाता है। परवस्तु के निमित्त से ही हिंसादि पाप होते हैं; केवल आत्मा से हिंसा, चोरी आदि पापकर्म नहीं हो सकते। इसलिए यदि निमित्त का बल न हो तो हिंसादि करनेवाले नरक में जाते हैं, यह कैसे बनेगा? परवस्तु ही नरक गमन का कारण होती है; इसलिए वहाँ निमित्त का बल है या नहीं? इस प्रकार निमित्त ने तर्क उपस्थित किया।

उक्त तर्क का समाधान करता हुआ उपादान कहता है -

हिंसा में उपयोग जहाँ, रहे ब्रह्म के राच।

तेई नर्क में जात है, मुनि नहिं जाहिं कदाच ॥ 13 ॥

अर्थ – हिंसादि में जिसका उपयोग (चैतन्यपरिणाम) हो और जो आत्मा उसमें रचा-पचा रहे, वही नरक में जाता है। भावमुनि कदापि नरक में नहीं जाते।

दोहा 13 पर प्रवचन

जब जीव को परजीव की हिंसा और जड़ परिग्रह इत्यादि में ममत्वरूप अशुभभाव होता है, तभी वह नरक में जाता है। किसी परवस्तु के कारण अथवा परजीव मर गया, इस कारण, कोई जीव नरक में नहीं जाता, किन्तु जिन जीवों का उपयोग अशुभपरिणामों में लीन हो रहा है, वे ही नरक में जाते हैं। परजीव के मरने से अथवा राजपाट के अनेक संयोग मिलने से जीव नरक में नहीं जाता। किन्तु मैंने राज किया, मैंने परजीव को मारा, यह रुपया-पैसा मेरा है; इस प्रकार के ममत्वपरिणाम से ही जीव नरक में जाता है। भावमुनि कभी भी नरक में नहीं जाते। कभी मुनि के पैर के नीचे कोई जीव आ जाए और दबकर मर जाए तो भी सच्चे मुनि नरक में नहीं जाते, क्योंकि उनके विपरीतभाव अर्थात् हिंसक परिणाम नहीं हैं। विपरीतभाववाला नरक में जाता है किन्तु कोई निमित्तवाला नरक में नहीं जाता।

प्रश्न – आपने कहा कि निमित्तवाला नरक में नहीं जाता, तब बहुत-सा रुपया-पैसा इत्यादि परिग्रह रखने में कोई हानि तो नहीं है न?

उत्तर – निमित्त दोष का कारण नहीं है किन्तु अपना ममत्वभाव अवश्य ही दोष का कारण है। जो पैसा इत्यादि रखने का भाव हुआ, वह कहीं बिना ममता के होता होगा? ममता ही

पापभाव है। बहुत रुपया-पैसा से अथवा परजीव के मरने से आत्मा नरक में नहीं जाता, किन्तु परजीव को मारने का हिंसकभाव और अधिक रुपया-पैसा रखने का तीव्र ममत्वभाव ही जीव को नरक में ले जाता है। किसी के पास एक ही रुपया हो, किन्तु उसके ममत्वभाव अधिक हो तो वह नरक में जाता है और दूसरे के पास करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति हो, तथापि ममत्वभाव अल्प हो तो वह नरक में नहीं जाता अर्थात् निमित्त के संयोग पर आधार नहीं है किन्तु उपादान के भाव पर आधार है। यदि गृहस्थ, हिंसादिक तीव्रपाप-कषाय न करे तो नरक में नहीं जाता और अज्ञानी त्यागी भी यदि तीव्र कलुषित परिणाम करे तो वह नरक में जाता है।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा हो और लड़ाई में हजारों मनुष्यों के संहार के बीच खड़ा हो तथा स्वयं भी बाण छोड़ रहा हो, तथापि उसके अन्तरङ्ग में यह प्रतीति है कि 'यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं परजीव का कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूँ; मेरी अस्थिरता के कारण मुझे रागवृत्ति आ जाती है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है' – ऐसा भान होने से वह नरक में नहीं जाता; इसलिए स्पष्ट है कि परजीव की हिंसा नरक का कारण नहीं है किन्तु अन्तरङ्ग का अशुभभाव ही नरक का कारण है।

निमित्त ने बारहवें दोहे में यह तर्क उपस्थित किया था कि 'निमित्त से पाप होता है' किन्तु अब वह यह तर्क उपस्थित करता है कि 'निमित्त से पुण्य होता है और जीव सुखी होता है' यथा –

दया दान पूजा किये, जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठा कहो, यह क्यों माने लोय ॥ 14 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि दया, दान, पूजा करने से जीव जगत में सुखी होता है। यदि आपके कथनानुसार निमित्त झूठा हो तो लोग उसे क्यों मानेंगे।

दोहा 14 पर प्रवचन

परजीव की दया, द्रव्यादि का दान और भगवान की पूजा इत्यादि से जीव के पुण्यबन्ध होता है; इस प्रकार दया में परजीव का निमित्त, दान में द्रव्य का निमित्त और पूजा में भगवान का निमित्त है तथा इस परनिमित्त से जीव पुण्य बाँधकर जगत में सुखी होता है। आप कहते हैं कि उपादान स्वतन्त्र है और पुण्य से या परवस्तु से सुख नहीं होता, किन्तु यह तो प्रत्यक्ष है कि दया इत्यादि से पुण्य करे तो अच्छी सामग्री मिलती है और जगत में जीव सुखी होता है। यदि निमित्त से सुख नहीं मिलता हो तो यह कैसे सम्भव है? यह निमित्त पक्ष का तर्क है। इसमें तीन प्रकार से निमित्त का पक्ष स्थापित हुआ -

- (1) पर निमित्त से पुण्य होता है।
- (2) पुण्य करने से बाह्य वस्तु मिलती है।
- (3) बाह्य वस्तु मिलने से जीव को सुख मिलता है।

इस प्रकार समस्त जगत, पुण्य के संयोगों में अपने को सुख मानता है; इसलिए निमित्त का ही बल है।

जिस प्रकार उपादानपक्ष ने निमित्तपक्ष के अभी तक के समस्त

तर्कों को खण्डित किया है; उसी प्रकार इस तर्क का भी खण्डन करता हुआ, वह कहता है कि -

दया-दान-पूजा भली, जगत माहिं सुखकार।
जहं अनुभव को आचरण, तहँ यह बन्ध विचार ॥ 15 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि दया, दान, पूजा इत्यादि भले ही जगत में बाह्य विद्या दें, किन्तु जहाँ अनुभव के आचरण पर विचार करते हैं, वहाँ यह सब (शुभभाव) बन्ध है; धर्म नहीं।

काव्य 15 पर प्रवचन

परजीव की दया में राग को कम करने से, दान में तृष्णा को कम करने से और पूजा - भक्ति में शुभराग करने से जो पुण्यबन्ध होता है, वह जगत में संसार के विकारीसुख का कारण है किन्तु वास्तव में तो यह दुःख ही है। सच्चे सुख के स्वरूप को जाननेवाले सम्यग्ज्ञानी, उस पुण्य को और उसके फल को सुख नहीं मानते। उस पुण्यभाव से रहित अपने शुद्ध पवित्र आत्मा का अनुभव ही सच्चा सुख है। पुण्यभाव से तो आत्मा को बन्ध होता है; इसलिए वह दुःख ही है और उसका फल भी दुःख का ही निमित्त है।

पुण्य तो आत्मा के गुण को रोकता है और जड़ का संयोग कराता है; उससे आत्मा के गुण का लाभ नहीं होता। यदि यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा को पहचानकर उसका अनुभव करे तो परमसुख और सच्चा लाभ हो। इसमें पुण्य और निमित्त (पुण्य का फल), इन दोनों से सुख होता है, यह बात उड़ा दी गयी है। पुण्य के फल के रूप में बाह्य में जो कुछ संयोग मिलता है, उसे अज्ञानी

जीव सुख मानता है किन्तु बाह्य सामग्री से और जड़ से आत्मा को लाभ अथवा सुख किञ्चित्मात्र भी नहीं है।

यहाँ 'समस्त जगत' शब्द से जगत के सभी अज्ञानी जीव समझना चाहिए। ज्ञानीजन जगत से परे हैं, वे अपने स्वभाव में हैं; 'समस्त जगत' कहने पर यहाँ उनका समावेश नहीं होता।

निमित्त ने कहा था कि पुण्य से जीव सुखी होता है। यहाँ उपादान कहता है कि किसी भी प्रकार का पुण्यपरिणाम, आत्मा को बाँधता है; आत्मा के अविकारी धर्म को रोकता है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि अशुभ से बचने के लिए शुभभाव न किये जाएँ, किन्तु यह समझना चाहिए कि वह पुण्यपरिणाम, आत्मधर्म में अर्थात् सुख में सहायक नहीं है। आत्मा की पहिचान करने से ही धर्म होता है किन्तु अधिकाधिक पुण्य करने से, वह आत्मा के धर्म के लिए निमित्तरूप होगा - यह कदापि नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि उपादानस्वरूप आत्मा का ही बल है; निमित्त का नहीं।

देखो तो, इस बाल-बच्चोंवाले गृहस्थ ने संवत् 1750 में उपादान-निमित्त के स्वरूप को कितना स्पष्ट किया है! सभी पहलुओं से तर्क उपस्थित किये हैं। जैसे, किसी का किसी के साथ कोई झगड़ा चल रहा हो तो वह उसके विरोध में तर्क करके दावा दायर करता है और नीचे की अदालत में असफल होने पर हाईकोर्ट में जाता है और वहाँ पर भी असफल होने पर सुप्रीमकोर्ट में अपील करता है, इस प्रकार सभी शक्य प्रयत्न करता है; उसी प्रकार यहाँ पर निमित्त भी नये-नये तर्क उपस्थित करता है, उलट-

पुलटकर जितनी बन सकती है, वे सब दलीलें रखता है किन्तु उसका एक भी तर्क उपादान के सामने नहीं टिक सकता। उपादान की तो एक ही बात है कि आत्मा अपने उपादान से स्वतन्त्र है, आत्मा की सच्ची श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता ही कल्याण का उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। अन्त में निमित्त और उपादान दोनों की युक्तियों को भलीभाँति जानकर सम्यग्ज्ञानरूपी न्यायाधीश अपना यथार्थ निर्णय देगा, जिसमें उपादान की जीत और निमित्त की हार होगी।

अभी तक निमित्त ने अपने को उपादान के सामने बलवान सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क उपस्थित किये हैं और उपादान ने न्यायबल से उसके सभी तर्कों का खण्डन कर दिया है।

अब, निमित्त नये प्रकार का तर्क उपस्थित करता है -

यह तो बात प्रसिद्ध है, सोच देख उर माहिं।

नरदेही के निमित्त बिन, जिय क्यों मुक्ति न जाहिं ॥ 16 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि यह बात तो प्रसिद्ध है कि नरदेह के निमित्त बिना जीव, मुक्ति को प्राप्त नहीं होता; इसलिए हे उपादान! तू इस सम्बन्ध में अपने अन्तरङ्ग में विचार कर देख।

दोहा 16 पर प्रवचन

निमित्त कहता है - दूसरी सब बातें तो ठीक हैं किन्तु मुक्ति में नरदेह का निमित्त है या नहीं? मनुष्य शरीर तो अनिवार्य है ही, यह तो होना ही चाहिए।

उपादान कहता है - अकेले के लिये अनिवार्य कौन ? नागा बाबा के सहायक का क्या काम ? नङ्गे को कौन लूटनेवाला है ? जैसे, नागा बाबा को सहायक नहीं होता; इसी प्रकार आत्मा समस्त परद्रव्य के परिग्रह से रहित अकेला स्वाधीन है; मोक्षमार्ग में उसे कोई लूटनेवाला नहीं है। आत्मा अपनी शक्ति से परिपूर्ण है; उसे किसी अन्य सहायक की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य शरीर, जड़ है, वह मुक्ति का सहायक नहीं हो सकता।

मनुष्यभव से ही मुक्ति होती है, अन्य तीन गतियों (देव, तिर्यञ्च, नरक) से मुक्ति नहीं होती; इसलिए निमित्त ऐसा तर्क करता है मानों मनुष्य देह, आत्मा को मुक्त करा देता है। वह कहता है कि सारी दुनिया का अभिप्राय लो तो इस पक्ष में अधिक मत मिलेंगे कि मनुष्य देह के बिना मुक्ति नहीं होती; इसलिए मनुष्य देह से ही मुक्ति होती है और यह बात तो जग प्रसिद्ध है; इसलिए हे उपादान! इसे तू अपने अन्तरङ्ग में विचार देख! क्या कहीं देव अथवा नरकादि भव से मुक्ति होती है ? कदापि नहीं। इसलिए मनुष्य शरीर ही मुक्ति में सहायक है। भाई! आत्मा को मुक्त होने में किसी न किसी वस्तु की सहायता की आवश्यकता पड़ती ही है। सौ हलवाले को भी एक हलवाले की किसी समय आवश्यकता हो जाती है; इसलिए आत्मा को मुक्ति के लिए निःसन्देह इस मानवदेह की सहायता आवश्यक है।

इस प्रकार बेचारा निमित्त अपना सारा बल एकत्रित करके तर्क करता है किन्तु उपादान का एक ही जवाब उसे खण्डित कर देता है।

उपादान कहता है कि -

देह पींजरा जीव को, रोकै शिवपुर जात।

उपादान की शक्ति सों, मुक्ति होत रे भ्रात ॥ 17 ॥

अर्थ - उपादान, निमित्त से कहता है कि हे भाई! देहरूपी पिंजरा तो जीव को शिवपुर / मोक्ष जाने से रोकता है किन्तु उपादान की शक्ति से मोक्ष होता है।

दोहा 17 पर प्रवचन

हे निमित्त! तू कहता है कि मनुष्य देह जीव को मोक्ष के लिए सहायक है किन्तु भाई! देह का लक्ष्य तो जीव को मोक्ष जाने से रोकता है, क्योंकि शरीर के लक्ष्य से तो राग ही होता है और राग, जीव की मुक्ति को रोकता है; इसलिए देहरूपी पिंजरा तो जीव को शिवपुर जाने से रोकने में निमित्त है।

ज्ञात हो कि यहाँ पर जो यह कहा है कि देहरूपी पिंजरा, जीव को मोक्ष जाने से रोकता है, यह व्यवहार कथन है। जीव स्वयं ही शरीर के प्रति लक्ष्य करके, अपनेपन की ममत्वरूप विपरीतदशा से स्वयं विकार में रुक जाता है, तब शरीररूपी पिंजरा, जीव को रोकता है, यह उपचार से कथन है।

ज्ञानी मुनिराज, सातवें-छट्टे गुणस्थान में आत्मानुभव में झूलते हो, तब वहाँ छट्टे गुणस्थान में संयम के हेतु शरीर निर्वाह के लिए आहार की शुभ इच्छा होती है, वह भी मुनि के केवलज्ञान और मोक्ष को रोकती है; इसलिए हे निमित्त! शरीर, आत्मा की मुक्ति में सहायक होता है, तेरी यह बात बिलकुल गलत है।

दूसरी बात यह है कि यह मनुष्य शरीर कहीं पहली बार नहीं

मिला है, ऐसे शरीर तो अनन्त बार प्राप्त हो चुके हैं, तथापि जीव मुक्त क्यों नहीं हुआ? स्वयं अपने स्वाधीन आनन्दस्वरूप आत्मा को नहीं जाना तथा जैसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, उसे नहीं समझा और पराश्रय में ही अटका रहा; इसीलिए मुक्ति नहीं हुई। केवलज्ञान और मुक्ति, आत्मा के स्वाश्रयभाव से उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं; वे शरीर की हड्डियों में से अथवा इन्द्रियों में से उत्पन्न नहीं होती।

ज्ञानी और अज्ञानी की मूलदृष्टि में ही अन्तर है। अज्ञानी की दृष्टि, आत्मस्वभाव पर नहीं है अर्थात् वह स्वाधीनशक्ति को / उपादान को नहीं जानता; इसलिए वह पराश्रितदृष्टि के कारण संयोग में सर्वत्र निमित्त को ही देखता है और उसी की शक्ति को मानता है। ज्ञानी की दृष्टि अपने आत्मस्वभाव पर है, उसे उपादान की स्वाधीनशक्ति का परिज्ञान है; इसलिए वह जानता है कि जहाँ अपना स्वभाव साधन होता है, वहाँ निमित्त अवश्य अनुकूल होता है किन्तु निमित्त पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है, जोर नहीं है।

यदि मानव देह, धर्म का कारण होता तो मनुष्य देह अनन्त बार मिल चुका है, तब जीव कभी का धर्म को पा गया होता, किन्तु यह जीव इससे पहले धर्म को कभी नहीं प्राप्त हुआ क्योंकि यदि उसने पहले धर्म को पाया होता तो अभी इस प्रकार संसार में नहीं होता; इसलिए मनुष्य-शरीर, जीव को धर्म प्राप्त करने में किञ्चित्मात्र भी सहायक नहीं है; स्वयं ही स्वयं का सहायक है।

प्रश्न – हमें तो धर्म करना है, उसमें इतना अधिक समझने की क्या आवश्यकता है? इतना सब समझकर हमें क्या करना है?

उत्तर – हे भाई! स्व कौन और पर कौन है? – इसका निर्णय किये बिना धर्म कहाँ करेगा? उपादान और निमित्त दोनों स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, यह समझकर, परवस्तुएँ आत्मा के लिए हानि-लाभ का कारण हैं, यह मिथ्या मान्यता दूर कर देनी चाहिए। आत्मा ही स्वयं अपना हानि-लाभ करता है – ऐसी स्वाधीनदृष्टि होने पर असंयोगी आत्मस्वभाव की सच्ची पहिचान होती है, वही धर्म है और वही आत्मकल्याण है। इस बात को समझे बिना जीव चाहे जो करे, किन्तु उसका कल्याण नहीं होता।

अब, निमित्त यह तर्क उपस्थित करता है कि निमित्त के बिना जीव का मोक्ष रुका हुआ है –

उपादान सब जीव पै, रोकनहारौ कौन?

जाते क्यों नहीं मुक्ति में, बिन निमित्त के हौन ॥ 18 ॥

अर्थ – निमित्त कहता है कि उपादान तो सब जीवों के है, तब फिर उन्हें रोकनेवाला कौन है? वे मोक्ष में क्यों नहीं चले जाते? स्पष्ट है कि निमित्त के नहीं होने से मोक्ष नहीं होता।

दोहा 18 पर प्रवचन

निमित्त कहता है कि हे उपादान! यदि उपादान की शक्ति से ही सब काम होते हों तो उपादान तो सभी जीवों में विद्यमान है; सभी जीवों में सिद्ध होने की शक्ति मौजूद है तो फिर सभी जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाते, उन्हें मोक्ष में जाने से कौन रोकता है? सच तो यह है कि जीवों को अच्छा निमित्त नहीं मिलता; इसलिए वे मोक्ष नहीं जा पाते। मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, पञ्चेन्द्रियों की पूर्णता, निरोग शरीर और साक्षात् भगवान की उपस्थिति – यह

सब अनुकूल निमित्त मिल जाएँ तो जीव को धर्म प्राप्त हो।

आँखों से भगवान के दर्शन और शास्त्रों का पठन होता है; इसलिए आँखें धर्म में सहायक हुईं न! और कान हैं तो उपदेश सुना जाता है। यदि कान न हों तो क्या उपदेश सुन सकेंगे? तात्पर्य यह है कि कान भी धर्म में सहायक हैं। इस प्रकार यदि इन्द्रियादिक की सामग्री ठीक हो तो जीव की मुक्ति हो। एकेन्द्रिय जीव के भी उपादान तो है, तब फिर वह मोक्ष में क्यों नहीं जाता? उसके इन्द्रियादिक सामग्री ठीक नहीं हैं; इसलिए मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता, इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त ही बलवान है।

निमित्त का तर्क तो देखो! मात्र संयोग के तरफ की ही बात ली है; कहीं भी आत्मा का कार्य तो लिया ही नहीं है किन्तु उपादान उसका उत्तर देता हुआ, मात्र आत्मा की तरफ से कहता है कि भले ही सब कुछ हो, किन्तु आत्मा स्वयं जागृत न हो तो उसकी मुक्ति नहीं होती -

उपादान सु अनादि को, उलट रह्यौ जगमाहिं।

सुलटत ही सूधे चलें, सिद्धलोक को जाहिं ॥ 19 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि जगत में अनादि काल से उपादान उलटा हो रहा है, उसके सुलटे होते ही सच्चा ज्ञान और सच्चा चारित्र प्रगट होता है और उससे वह सिद्धलोक को जाता है - मोक्ष पाता है।

दोहा 19 पर प्रवचन

अरे निमित्त! यह सच है कि उपादान तो सभी आत्माओं में अनादि काल से है परन्तु वह उपादान अपने विपरीतभाव से संसार

में अटक रहा है, किसी निमित्त ने उसे नहीं रोका। निगोददशा में जीव, धर्म को नहीं पा सकता, वहाँ भी वह अपने ही विपरीतभाव के कारण ज्ञानशक्ति को हार बैठा है। यह बात नहीं है कि 'इन्द्रियाँ नहीं हैं, इसलिए ज्ञान नहीं है' किन्तु 'अपने में ही ज्ञानशक्ति का हनन कर चुका है; इसलिए निमित्त भी नहीं है' - इस प्रकार उपादान की ओर से कहा गया है।

अच्छे कान और अच्छी आँखें मिलने से क्या होता है? कानों में उपदेश के शब्द आने पर भी यदि उपादान जागृत नहीं है तो धर्म नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार अच्छी आँखें हों और शास्त्रों के शब्द भलीभाँति पढ़े जाएँ, किन्तु यदि उपादान अपनी ज्ञानशक्ति से न समझे तो उसके धर्म नहीं होता। यदि आँखों से और शास्त्र से धर्म होता हो तो बड़ी-बड़ी आँखोंवाले भैंसे के सामने पोथा रखकर तो देखिये, इतना अच्छा निमित्त मिलने पर भी वह समझता क्यों नहीं है? सच तो यह है कि उपादान में ही शक्ति नहीं है; इसलिए नहीं समझता। आत्मा पर कर्म इत्यादि किसी का जोर नहीं है। अनादि काल से उपादान के होने पर भी आत्मा स्वयं अभानदशा में अपने विपरीत पुरुषार्थ से अटक रहा है। जब वह आत्मप्रतीति करके सीधा होता है, तब मुक्ति प्राप्त करता है। निमित्त के अभाव से मुक्ति का अभाव नहीं है किन्तु उपादान की जागृति के अभाव से मुक्ति का अभाव है।

निमित्त कहता है कि एक काम में बहुतों की आवश्यकता होती है। उपादान कहता है कि भले ही यह सब कुछ हो, किन्तु एक उपादान न हो तो कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

निमित्त का तर्क है कि क्या मात्र आटे से रोटी बन सकती है ? चकला, बेलन, तवा, अग्नि और बनानेवाला, यह सब हो तो रोटी बनती है किन्तु यदि इनकी सहायता न हो तो अकेला आटा पड़ा-पड़ा क्या करेगा ? क्या मात्र आटा से रोटी बन जाएगी ? कदापि नहीं। तात्पर्य यह है कि निमित्त बलवान है, उसकी सहायता अनिवार्य है।

उपादान का समाधान है कि चकला, बेलन, तवा, अग्नि और बनानेवाला इत्यादि सब मौजूद हों, किन्तु यदि आटे की जगह रेत हो तो क्या रोटी बन जाएगी ? कदापि नहीं। क्योंकि उस उपादान में उस प्रकार की शक्ति नहीं है। एकमात्र आटा न होने से रोटी नहीं बनती और आटे में रोटी के रूप में परिणत होने की जिस समय योग्यतारूप उपादानशक्ति है, उस समय वहाँ अनुकूल निमित्त उपस्थित होते ही हैं किन्तु रोटी स्वयं आटे में से ही होती है।

कार्य तो मात्र उपादान से ही होता है। आत्मा में मात्र पुरुषार्थ से ही कार्य होता है। मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, पञ्चेन्द्रियों की पूर्णता, निरोग शरीर और साक्षात् भगवान की उपस्थिति इत्यादि किसी से भी जीव को लाभ नहीं होता। यह सब निमित्त तो जीव को अनन्त बार मिल चुके हैं, तथापि उपादान स्वयं सुलटा नहीं हुआ; इसलिए किञ्चित्मात्र भी लाभ नहीं हुआ। यदि स्वयं सही पुरुषार्थ करे तो आत्मा की परमात्मदशा स्वयं अपने में से प्रगट करता है। उसमें उसके लिए कोई निमित्त सहायक नहीं हो सकते।

देखो! इसमें कितना पुरुषार्थ आया। उपादान ने एक

आत्मस्वभाव को छोड़कर जगत की समस्त परवस्तुओं की दृष्टि को अपङ्ग बना दिया है। मुझे अपने आत्मा के अतिरिक्त विश्व की किसी भी वस्तु से हानि या लाभ नहीं है, कोई भी वस्तु मुझे राग नहीं कराती, मेरे स्वभाव में राग है ही नहीं – ऐसी श्रद्धा होते ही दृष्टि में न तो राग रहता है और न पर का अथवा राग का आधार ही रहता है। हाँ, आधार स्वभाव का रह गया; इसलिए राग निराधार /अपङ्ग हो गया। अल्प काल में ही वह नष्ट हो जाएगा और वीतरागता प्रगट हो जाएगी — ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ इस सच्ची समझ में आता है।

किसी जीव के आँख-कान इत्यादि अच्छे होने पर भी, वह अज्ञान से तीव्रराग करके सातवें नरक में जाता है, तब वहाँ आँख-कान क्या कर सकते हैं ? श्रीगजसुकुमार मुनि के आँख-कान जल गये थे, तथापि भीतर उपादान के जागृत हो उठने से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया था, इसमें निमित्त ने क्या किया ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की अवस्था को रोके या मदद करे – यह बात सत्य के जगत में अर्थात् अनन्त ज्ञानियों के ज्ञान में और वस्तु के स्वभाव में नहीं है। असत्य के जगत में अर्थात् अनन्त अज्ञानी वैसा मानते हैं; इसलिए वे संसार में दुःखी होकर परिभ्रमण करते हैं।

जीव, एकेन्द्रिय से सीधा मनुष्य हो सकता है सो कैसे ? एकेन्द्रियदशा में तो स्पर्शेन्द्रिय के सिवाय कोई इन्द्रिय अथवा मन की सामग्री नहीं है, तथापि आत्मा में वीर्यगुण है, उस वीर्यगुण के बल पर अन्दर में शुभभाव करता है, जिससे वह मनुष्य होता है। कर्म का बल कम होने से शुभभाव हुआ, यह

बात गलत है। परवस्तु से कोई पुण्य-पाप होता ही नहीं है। जीव स्वयं ही मन्द विपरीतवीर्य से शुभाशुभभाव करता है। यदि उपादान स्वयं सुलटा होकर समझे तो स्वयं मुक्ति को प्राप्त होता है; विपरीत होने पर स्वयं ही फँसा रहता है, कोई दूसरा उसे नहीं रोकता।

जब स्वतन्त्र उपादान जागृत होता है, तब निमित्त अनुकूल ही होता है। स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक पूर्णता का पुरुषार्थ करते हुए साधकदशा में राग के कारण उच्च पुण्य का बन्ध हो जाए और उस पुण्य के फल में बाहर धर्म की पूर्णता के निमित्त मिलें, परन्तु जागृत हुआ साधकजीव उस पुण्य के आश्रय में न रुककर, स्वभाव में आगे बढ़ता हुआ, पुरुषार्थ की पूर्णता करके मोक्ष को प्राप्त करता है। जब उपादान, मोक्ष प्राप्त करता है, तब बाह्य निमित्त ज्यों के त्यों पड़े रह जाते हैं; वे कहीं उपादान के साथ नहीं जाते। इस प्रकार पुरुषार्थ की पूर्णता करके मोक्ष होता है।

जीव अनादि काल से विपरीत समझा है, वह मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु के कारण नहीं किन्तु अपने असमझरूप भाव के कारण ही विपरीत समझकर परिभ्रमण कर रहा है। इसी प्रकार जीव यथार्थ समझ भी स्वयं ही करता है। कान से, आँख से अथवा देव-गुरु-शास्त्र से जीव को सच्ची समझ नहीं होती। यदि कान इत्यादि से ज्ञान होता हो तो जिन्हें वे निमित्त मिलते हैं, उन सबको एक साथ ज्ञान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है; इसलिए मोक्ष और संसार; ज्ञान और अज्ञान, अथवा सुख और दुःख - यह सब उपादान से ही होते हैं; इस प्रकार जीव को लाभ-हानि में किसी

भी पर का किञ्चित्मात्र कारणपना नहीं है - ऐसा दृढ़तापूर्वक सिद्ध करके, निमित्त का 'कुछ प्रभाव पड़ता है' - इस मिथ्या मान्यतारूप अज्ञान को सम्पूर्णतः समाप्त कर दिया है।

अब, निमित्त नया तर्क उपस्थित करता है -

कहुँ अनादि बिन निमित्त ही, उलट रह्यौ उपयोग।

ऐसी बात न संभवै, उपादान तुम जोग ॥ 20 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि क्या अनादि से बिना निमित्त के ही उपयोग (ज्ञान का व्यापार) उलटा हो रहा है? हे उपादान! तुम्हारे लिए ऐसी बात तो सम्भव नहीं है।

दोहा 20 पर प्रवचन

उपादान ने 19 वें दोहे में कहा था कि अनादि से उपादान उलटा हो रहा है, इस कथन को लक्ष्य में लेकर निमित्त यह तर्क करता है कि हे उपादान! तुझमें अनादि से जो विकारभाव हो रहा है, क्या वह बिना निमित्त ही हो रहा है? यदि परनिमित्त के बिना, मात्र आत्मा से ही विकार होता हो तो वह आत्मा का स्वभाव ही हो जाएगा और तब तो सिद्ध भगवान के भी विकार होना सिद्ध होगा, परन्तु विकारीभाव अन्य निमित्त के बिना नहीं होता, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि विकार बिना निमित्त के होने लगे तो विकार, स्वभाव हो जाए, किन्तु विकार में निमित्त तो होता ही है; इसलिए निमित्त का जोर हुआ या नहीं?

विपरीतभाव अकेले स्वभाव में से ही आया या उसमें कोई निमित्त भी था? क्या अकेली चूड़ी बज सकती है? अकेली चूड़ी नहीं बज सकती, किन्तु साथ में दूसरी चूड़ी के होने पर ही बज

सकती है। यदि सामने चन्द्रमा न हो तो आँख में उँगली लगाने से दो चन्द्रमा न दिखाई दें, क्योंकि सामने दूसरी चीज है; इसीलिए विकार होता है। इसी प्रकार आत्मा के विकार में दूसरी वस्तु की आवश्यकता होती है। उपादान और निमित्त दोनों के एकत्रित होने पर विकार होता है। जब आत्मा विकार करता है, तब वह पर के लक्ष्य से करता है या आत्मा के लक्ष्य से? मात्र आत्मा के लक्ष्य से विकार होने की योग्यता ही नहीं है; इसलिए विकार होने में मैं (निमित्त) भी कुछ करता हूँ।

ध्यान रखिये, यह तो सब निमित्त के तर्क हैं। ऊपर से बलवान लगनेवाले ये तर्क, भीतर से बिलकुल बलहीन हैं, इनकी तो नींव ही कमजोर है। उपादान के सामने निमित्त का एक भी तर्क नहीं टिक सकता।

उपादान का उत्तर -

उपादान कहे रे निमित्त, हम पै कही न जाय।

ऐसी ही जिन केवली, देखे त्रिभुवन राय ॥ 21 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि हे निमित्त! मुझसे नहीं कहा जा सकता; जिनेन्द्र केवली भगवान त्रिभुवनराय ने ऐसा ही देखा है।

दोहा 21 पर प्रवचन

अरे निमित्त! जब आत्मा अपने विपरीतभाव से राग-द्वेष करता है, तब जो दूसरी वस्तु उपस्थित है, उसका इन्कार कैसे किया जा सकता है? जब जीव विकार करता है, तब दूसरी वस्तु निमित्तरूप में उपस्थित होती है - यह ठीक है किन्तु उस निमित्त के कारण आत्मा विकार करता है - यह बात ठीक नहीं है।

भले ही विकार, आत्मा के स्वभाव में से नहीं आता, किन्तु विकार की उत्पत्ति तो आत्मा की ही अवस्था में से होती है, कहीं निमित्त की अवस्था में से नहीं होती। दो चूड़ियाँ एकत्रित होकर बजती हैं, किन्तु वे एक-दूसरे के कारण नहीं बजतीं, अपितु प्रत्येक चूड़ी अपनी ही शक्ति से बजती है। दो लकड़ियाँ एकत्रित होती हैं तो वे चूड़ियों की तरह नहीं बजती, क्योंकि उनमें उस तरह की उपादानशक्ति नहीं है। कभी दो चूड़ियाँ टक्कर लगने से टूट भी जाती हैं, तब वे वैसी क्यों नहीं बजतीं? उनमें वैसी आवाज़ होने की उपादानशक्ति नहीं है किन्तु टूटनेरूप योग्यता है; इसलिए वैसा होता है।

दूसरे, चन्द्रमा है, इसलिए आँख को उँगली से दबाने पर दो चन्द्रमा दिखाई देते हों - यह बात भी ठीक नहीं है। यदि चन्द्रमा के कारण ऐसा होता हो तो जो चन्द्रमा को देखते हैं, उन सबको दो चन्द्रमा दिखाई देने चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसमें चन्द्रमा का कारणपना नहीं है। एक देखनेवाले को चन्द्रमा एक ही स्पष्ट दिखाई देता है और दूसरे देखनेवाले को दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं; यहाँ देखनेवाले की दृष्टि में कुछ अन्तर है। जो देखनेवाला अपनी आँख में उँगली गढ़ाकर देखता है, उसे दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं; दूसरे को नहीं दिखाई देते। इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त के अनुसार कार्य नहीं होता है, अपितु उपादानकारण की शक्ति के अनुसार कार्य होता है।

इसी प्रकार जब जीव निजस्वरूप को भूलकर विपरीत दृष्टि से विकार करता है, तब वह उसे स्वयं ही करता है; कोई पर नहीं

कराता। सामने निमित्त तो एक का एक ही है, तथापि उपादान की योग्यता के कारण परिणाम में अन्तर होता है।

यहाँ पर उपादान के कहने का आशय यह है कि जब जीव विकार करता है, तब उसका लक्ष्य दूसरी वस्तु पर होता है, उस दूसरी वस्तु को निमित्त कहा जाता है किन्तु जिनेन्द्रभगवान देखते हैं कि निमित्त के असर के बिना ही उपादान का उपयोग अपने ही कारण से विपरीत हुआ है; इसलिए तू जैसा कहता है, वैसा मुझसे नहीं कहा जा सकता।

इसका दृष्टान्त इस प्रकार है – कोई सुन्दर मरी हुई वेश्या मार्ग में पड़ी हुई है; उसे साधु, चोर, विषयासक्त पुरुष और कुत्ते ने देखा। उनमें से साधु ने विचार किया कि अरे! ऐसा मनुष्यभव पाकर भी आत्मा को पहचाने बिना यह मर गयी। चोर ने विचार किया कि यदि कोई यहाँ न हो तो इसके शरीर से गहने उतार लूँ। विषयासक्त पुरुष ने यह विचार उत्पन्न किया कि यदि यह जीवित होती तो इसके साथ भोग भोगता और कुत्ते ने विचार किया कि यदि यहाँ से सब लोग चले जाएँ तो मैं इसके शरीर का माँस खाऊँ।

अब देखिए, यहाँ पर सबके लिए एक-सा ही निमित्त है, तथापि प्रत्येक को उपादान की स्वतन्त्रता के कारण विचार में कितना अन्तर हो गया? यदि निमित्त का असर होता हो तो सबके विचार एक समान होने चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं हुआ; इससे सिद्ध है कि उपादान की स्वाधीनता से ही कार्य होता है। जीव स्वयं ही पापभाव, पुण्यभाव या पुण्य-पापरहित शुद्ध वीतरागभाव में से जैसा भाव करना चाहे, वैसा भाव कर सकता है।

यह तो समझी जा सकने योग्य धर्म की बात है, प्रथम दशा में समझने के लिए साधारण बात है। सम्यग्दर्शन अर्थात् स्वतन्त्र परिपूर्ण आत्मस्वभाव की पहचान प्रगट करने के पूर्व वस्तु का यथार्थ निर्णय करने के लिए यह प्रथम भूमिका है। कल्याण के लिए यह अपूर्व समझ है। यह मात्र शब्दों की बातें नहीं हैं किन्तु यह तो केवलज्ञान की प्राप्ति की बारहखड़ी की प्रथम भूमिमात्र है; इसलिए इसे रुचिपूर्वक ठीक से समझना चाहिए।

अज्ञानी कहता है – ‘कर्म के निमित्त के बिना आत्मा को विकार नहीं होता; इसलिए कर्म ही विकार कराता है।’ ज्ञानी कहता है – ‘आत्मा स्वयं जितना विकार करता है, तब उतने प्रमाण में कर्म को निमित्त कहा जाता है, लेकिन वह कर्म आत्मा को विकार नहीं कराता।’

देखो, कोई हजारों गालियाँ दे तो वह क्रोध का कारण नहीं है, किन्तु यदि जीव क्षमा छोड़कर क्रोध करे तो गाली को क्रोध का निमित्त कहा जाता है। जीव यदि अपने भाव में क्षमा को सुरक्षित रखे तो हजारों या करोड़ों गालियों के होने पर भी उन्हें निमित्त नहीं कहा जा सकता। उपादान के भावानुसार सामने की वस्तु में निमित्तपने का आरोप आता है किन्तु सामने की वस्तु के कारण उपादान का भाव हो – यह कदापि नहीं होता। जब उपादान, स्वाधीनतापूर्वक अपना कार्य करता है, तब दूसरी वस्तु मात्र निमित्तरूप उपस्थित होती है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है; तब हे निमित्त! मैं उससे इन्कार कैसे कर सकता हूँ?

यहाँ उपादान यह कहना चाहता है कि जगत की दूसरी वस्तुएँ

उपस्थित हैं, उन्हें अपने ज्ञान में जानता तो हूँ, दूसरी वस्तु को जानने में कोई हानि नहीं है किन्तु दूसरी वस्तु मुझमें कुछ कर सकती है – यह बात मुझे मान्य नहीं है।

जगत में अनन्त परद्रव्य हैं, वे सब सदा स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं; यदि ऐसा न माने तो ज्ञान असत् है और यदि यह मानें कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है तो भी ज्ञान असत् ही है। जीव, तीव्र राग-द्वेष करता है और उसके निमित्त से कर्म बँधते हैं; जब उन कर्मों का उदय आता है, तब जीव को तीव्र राग-द्वेष करना ही होता है – यह बात बिलकुल गलत और जीव की स्वाधीनता की हत्या करनेवाली है। जब जीव, राग-द्वेष करता है, तब कर्म का निमित्त तो होता है किन्तु कर्म, जीव को राग-द्वेष नहीं कराते। जीवद्रव्य अथवा पुद्गलद्रव्य दोनों अपनी पर्याय में स्वतन्त्र हैं और अपनी-अपनी अविकारी अथवा विकारी अवस्था को स्वयं ही स्वतन्त्रतया करते हैं। कोई एक-दूसरे का कर्ता नहीं है; इस प्रकार स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव की पहिचान करना ही प्रथम धर्म है।

आत्मा के गुण के लिए परवस्तु की सहायता की आवश्यकता है; परवस्तु आत्मा के गुण या दोष उत्पन्न करती है, यह मान्यता ठीक नहीं है – यह बात इस संवाद में सिद्ध की गयी है। यदि परवस्तु, आत्मा में दोष उत्पन्न कराती हो तो परवस्तु तो हमेशा रहती है; इसलिए दोष भी स्थायी हो जाएँगे और वे कभी दूर नहीं हो सकेंगे और यदि गुण के लिए आत्मा को परवस्तु की आवश्यकता हो तो गुण पराधीन हो जाएँगे, परन्तु गुण तो स्वाधीन स्वभाव है;

इसलिए आत्मा के गुण-दोषों को परवस्तुएँ उत्पन्न नहीं कर सकतीं। जब जीव स्वयं अपना कार्य करता है, तब वह निश्चय (उपादान) है और अन्य वस्तु की उपस्थिति व्यवहार (निमित्त) है। यह दोनों हैं अवश्य, किन्तु अन्य वस्तु उसमें गुण-दोष उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं है।

पैसा हो तो पुण्य उत्पन्न हो और शरीर अच्छा हो तो धर्म हो – यह दोनों मान्यताएँ बिलकुल मिथ्या हैं। इसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्र की उपस्थिति, जीव को धर्म प्राप्त कराती है – यह बात भी मिथ्या है। यदि जीव स्वयं समझे तो धर्म प्राप्त करता है और जब स्वयं धर्म को प्राप्त करता है, तब विनय के लिए कहा जाता है कि सद्गुरु ने धर्म समझाया – यह व्यवहार है किन्तु वास्तव में कोई किसी को धर्म समझाने के लिए समर्थ नहीं है। यदि इस प्रकार के निश्चय की प्रतीति हो तो यह व्यवहार का कथन सच्चा कहा जा सकता है, ऐसा न हो तो व्यवहार असत् ही है।

निमित्त का तर्क था कि हे उपादान! तेरी यह सब बात तो ठीक है किन्तु तेरी आत्मा में जो दोष होता है, वह दोष क्या तेरे स्वभाव में से आता है? कदापि नहीं। दोष के लिए अन्य वस्तु की उपस्थिति आवश्यक है; इसलिए मैं कहता हूँ कि निमित्त के बल से ही दोष होते हैं।

उपादान ने इसके उत्तर में कहा कि हे निमित्त! जब उपादान अपना कार्य करता है, तब निमित्त की उपस्थिति होती है – ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, तब मैं उससे इन्कार कैसे कर सकता हूँ परन्तु अन्य उपस्थित वस्तु, आत्मा को बिलकुल विकार नहीं कराती।

‘यदि मात्र उपादान से ही कार्य हो सकता हो तो क्या बिना कर्म के ही आत्मा में अवगुण होते हैं? बिना कर्म के दोष नहीं होते; इसलिए कर्म का बल ही आत्मा में रागादि उत्पन्न कराता है’ – इस प्रकार अज्ञानीजन उपादान को पराधीन मानते हैं। उपादान की स्वाधीनता को प्रगट करते हुए ज्ञानी कहते हैं कि जीव स्वयं समझे तो वह मुक्ति को प्राप्त करता है, तब कर्म इत्यादि अन्य वस्तु को निमित्त कहा जाता है परन्तु कर्म जबरन आत्मा को विकार नहीं कराते। इस प्रकार परवस्तु की निमित्तरूप उपस्थिति है, इतना ज्ञान में स्वीकार किया, किन्तु वह उपादान के लिए किञ्चित्मात्र भी कुछ करता है, इस बात को बिलकुल जड़ से ही समाप्त कर दिया है।

अब, निमित्त कुछ ढीला होकर उपादान और निमित्त दोनों को एक समान अर्थात् 50 प्रतिशत कहने के लिए उपादान को समझाता है -

जो देख्यो भगवान ने, सो ही सांचो आहिं।

हम तुम संग अनादि के, बली कहोगे काहिं ॥ 22 ॥

अर्थ – निमित्त कहता है कि भगवान ने जो देखा है, वही सत्य है। मेरा और तेरा अनादिकालीन सम्बन्ध है; इसलिए हम दोनों में से बलवान किसे कहा जाए? अर्थात् कम से कम यह तो कहो कि हम दोनों समान हैं, समकक्ष हैं।

दोहा 22 पर प्रवचन

निमित्त – हे उपादान! भगवान श्री जिनेन्द्रदेव ने हम दोनों (उपादान-निमित्त तथा निश्चय-व्यवहार) को देखा है; अतः भगवान

ने जो देखा है, वह सत्य है। हम दोनों अनादि काल से एक साथ रह रहे हैं; इसलिए कोई बलवान नहीं है, हम दोनों समान हैं, कम से कम इतना तो कहो।

उपादान – नहीं, नहीं! निमित्ताधीन अर्थात् परावलम्बी दृष्टि से (व्यवहारनय के आश्रय से) तो जीव अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है। संसार में अधर्म, स्त्री-धन इत्यादि के निमित्त से होते हैं और धर्म, देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त से होते हैं; इस प्रकार पराधीन माननेवाली निमित्ताधीनदृष्टि ही मिथ्यात्व है और उसी का फल, संसार है।

निमित्त – भगवान ने एक कार्य में दो कारण देखे हैं, उपादानकारण और निमित्तकारण; इसलिए कार्य में उपादान और निमित्त दोनों के 50-50 प्रतिशत रखिए। स्त्री का निमित्त हो तो विकार होता है और गाली देनेवाला हो तो क्रोध होता है; इसलिए 50 प्रतिशत निमित्त करता है और 50 प्रतिशत उपादान करता है; इस प्रकार दोनों के एकत्रित होने से कार्य होता है, यह सीधा हिसाब है।

उपादान – गलत, बिलकुल गलत! यह 50-50 प्रतिशत का सीधा हिसाब नहीं, किन्तु दो और दो, तीन जैसी स्पष्ट भूल है। यदि स्त्री अथवा गाली 50 प्रतिशत विकार उत्पन्न कराती हो तो केवली सर्वज्ञ के भी विकार होना चाहिए, किन्तु कोई भी निमित्त किसी को एक प्रतिशत भी विकार कराने में समर्थ नहीं है। जब जीव स्वयं शत-प्रतिशत विकार करता है, तब परवस्तु की उपस्थिति को निमित्त कहा है। इस समझ में ही स्पष्ट हिसाब है कि

प्रत्येक द्रव्य भिन्न रहे और स्वतन्त्रतया अपनी-अपनी अवस्थाओं का कर्ता हो; कोई द्रव्य किसी दूसरे का कुछ भी नहीं कर सके।

इस दोहे में निमित्त की प्रार्थना है कि हम दोनों समकक्षी रहे हैं। अनादि काल से जीव के साथ कर्म चिपके हुए हैं और वे जीव के विकार में निमित्त हो रहे हैं। निमित्तरूप कर्म, अनादि काल से हैं; इसलिए उन्हें जीव के साथ समकक्षी तो रखिए।

अब, उपादान ऐसा उत्तर देता है कि निमित्तरूप जो कर्म के परमाणु हैं, वे तो बदलते ही जाते हैं और मैं उपादानस्वरूप आत्मा एकरूप ही त्रिकाल रहता हूँ; इसलिए मैं ही बलवान हूँ -

उपादान कहे वह बली, जाको नाश न होय।

जो उपजत विनशत रहे, बली कहाँ तैं सोय ॥ 23 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि जिसका नाश नहीं होता, वह बलवान है; जो उत्पन्न होता है और जिसका विनाश होता है, वह बलवान कैसे हो सकता है ?

नोट - उपादान स्वयं सदा कार्यरूप परिणत होनेवाली अखण्ड एकरूप वस्तु है; इसलिए उसका नाश नहीं होता। निमित्त तो संयोगरूप है, आता है और जाता है; इसलिए वह नाशवान है; अतः उपादान ही बलवान है।

दोहा 23 पर प्रवचन

जीव स्वयं अज्ञानभाव से भले ही अनादि काल से नया-नया राग-द्वेष किया करे, तथापि निमित्त कर्म अनादि से एक से नहीं रहते, वे तो बदलते ही रहते हैं। पुराने निमित्त कर्म खिर जाते हैं और नये बँधते हैं तथा उनका समय पूरा होने पर वे भी खिर जाते

हैं। यदि जीव नया राग-द्वेष करता है तो उन कर्मों को निमित्त कहा जाता है; इस प्रकार उपादानस्वरूप आत्मा तो अनादि काल से वैसा का वैसा ही रहता है और कर्म बदलते रहते हैं; इसलिए मैं (उपादान ही) बलवान हूँ। अपने गुणों को प्रगट करने की शक्ति भी मुझमें ही है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु भी पृथक्-पृथक् बदलते जाते हैं और उनकी सच्ची वाणी भी बदलती जाती है अर्थात् भाषा के शब्द सदा एक से नहीं रहते, परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और उनकी वाणी का ज्ञान करते समय मेरा अपना ही ज्ञान, ज्ञान से काम करता है।

मैं आत्मा त्रिकाल हूँ और गुण अथवा दोष के निमित्त, सब बदलते ही जाते हैं। कर्मों के परमाणु भी बदलते जाते हैं, तब फिर कर्म बड़े हैं या मैं ? अज्ञानियों की यह महा-मिथ्यात्वरूप भयङ्कर भूल है कि वे ऐसा मानते हैं कि कर्म, आत्मा के पुरुषार्थ को रोकते हैं। वस्तुतः वे आत्मा के पुरुषार्थ को पराधीन माननेवाले महा मिथ्यात्वरूप सबसे बड़े दोष को अपने ऊपर ले लेते हैं। वीतरागशासन में परम सत्य वस्तुस्वरूप से प्रगट है कि आत्मा के भाव में कर्म की शक्ति बिलकुल नहीं है; मात्र आत्मा का ही बल है। आत्मा सम्पूर्ण स्वाधीन है। अपनी स्वाधीनता से अपने चाहे जैसे भाव कर सकता है। आत्मा स्वयं जिस समय जैसा पुरुषार्थ करता है, तब वैसा ही पुरुषार्थ हो सकता है; इस प्रकार की आत्मस्वाधीनता की समझ ही मिथ्यात्व के सबसे बड़े दोष को नाश करने का एकमात्र उपाय है।

अरे भाई! तू आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, तेरे भाव से ही तुझे

हानि-लाभ है; कोई परवस्तु तुझे हानि-लाभ नहीं करती। जीव यदि इस प्रकार की यथार्थ प्रतीति करे तो वह स्वलक्ष्य से मुक्ति को प्राप्त करता है परन्तु यदि जीव अपने भाव को न पहचाने और यही मानता रहे कि पर निमित्त से निज को हानि-लाभ होता है तो उसका परलक्ष्य कदापि नहीं छूट सकता और स्व की पहचान भी कभी नहीं हो सकती; इसलिए वह संसार में चक्कर लगाया करता है। अतः उपादान और निमित्त इन दोनों के स्वरूप को पहचान कर यह निश्चय करना चाहिए कि उपादान और निमित्त दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, कभी कोई एक-दूसरे का कार्य नहीं करते; इस प्रकार निश्चय करके, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, अपने उपादानस्वरूप को लक्ष्य में लेकर स्थिर होना ही सुखी होने का अर्थात् मोक्ष का उपाय है।

निमित्त का तर्क -

उपादान तुम जोर हो, तो क्यों लेत अहार।

पर निमित्त के योग सों, जीवत सब संसार ॥ 24 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि हे उपादान! यदि तेरा बल हो तो तू आहार क्यों लेता है? संसार के सभी जीव, पर निमित्त के योग से ही जीते हैं।

दोहा 24 पर प्रवचन

हे उपादान! इन कर्म इत्यादि को जाने दीजिए, यह तो दृष्टि से दिखाई देते नहीं, किन्तु यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि आहार के निमित्त से तू जी रहा है। यदि तेरी शक्ति हो तो तू आहार क्यों लेता है? बिना आहार के अकेला क्यों नहीं

जीता? अरे! छट्टे गुणस्थान तक मुनिराज भी आहार लेते हैं, आहार के ही निमित्त से जी रहे हैं। क्या आहार के निमित्त बिना, मात्र उपादान से जिया जा सकता है? सच तो यह है कि निमित्त ही बलवान है।

इस प्रकार निमित्त पक्ष का वकील तर्क करता है। जो वकील होता है, वह अपने ही मुवक्किल की ओर से तर्क उपस्थित करता है; वह अपने विरोधी पक्ष के सच्चे तर्क को जानता हुआ भी कभी उस तर्क को पेश नहीं करता। यदि वह विरोधी पक्ष की ओर के तर्क को उपस्थित करे तो वह वकील कैसे कहलायेगा? यहाँ निमित्त का वकील कहता है कि निमित्त की भी कुछ दुहाइयाँ हैं, मात्र उपादान ही काम नहीं करता; इसलिए निमित्त की शक्ति का आधार भी स्वीकार करो।

उपादान का उत्तर -

जो अहार के जोग सों, जीवत है जगमांहिं।

तो वासी संसार के, मरते कोऊ नांहिं ॥ 25 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि यदि आहार के योग से जगत के जीव जीते हों तो संसारवासी कोई भी जीव नहीं मरता।

दोहा 25 पर प्रवचन

हे निमित्त! आहार के कारण जीवन नहीं टिकता। यदि जगत के जीवों का जीवन आहार से टिकता हो तो इस जगत में किसी जीव को मरना ही नहीं चाहिए किन्तु खाते-खाते भी जगत के जीव मरते देखे गये हैं। इससे सिद्ध है कि आहार, जीवन का कारण नहीं है; सब अपनी-अपनी आयु से जीते हैं। जब तक आयु

होती है, तब तक जीता है और आयु के न होने पर चक्रवर्ती, वासुदेव के लिए बनाये गये 'सिंह केशरिया लड्डू' खाने पर भी मर जाता है। जहाँ आयु समाप्त हुई, वहाँ आहार क्या करेगा? आठों पहर खान-पान और आराम से शरीर की चाकरी करने पर भी जीव क्यों मर जाते हैं? आहार के निमित्त के कारण उपादान नहीं टिकता। एक वस्तु में दूसरी वस्तु के कारण कुछ भी नहीं होता; इसलिए हे निमित्त! तेरी बात मिथ्या है।

कोई भोजन करने के लिए बैठा हो, भोजन करके पेट भर लिया हो, हाथ में ग्रास मौजूद हो फिर भी शरीर छूट जाता है। यदि आहार से शरीर टिकता हो तो खानेवाला कोई नहीं मरना चाहिए और सभी उपवासी मर जाना चाहिएँ, परन्तु आहार करनेवाले भी मरते हैं और बिना आहार के भी पवनभक्षी वर्षों तक जीते रहते हैं; इसलिए आहार के साथ जीवन-मरण का कोई सम्बन्ध नहीं है। आहार का संयोग उन परमाणुओं के कारण से आता है और शरीर के परमाणु शरीर के कारण टिकते हैं। आहार और शरीर दोनों के परमाणु भिन्न हैं।

आहार की तरह दवा के कारण भी शरीर नहीं टिकता और न दवा के कारण रोग ही दूर होता है। हजारों आदमी औषधियाँ लाते हैं, खाते हैं किन्तु रोग नहीं मिटता और दवा के बिना भी रोग मिट जाता है; यह तो स्वतन्त्र द्रव्य की स्वतन्त्र अवस्थाएँ हैं। एक वस्तु के कारण दूसरी वस्तु में कार्य हो - यह बात पवित्र जैनदर्शन को मान्य नहीं है क्योंकि वस्तुस्थिति ही वैसी नहीं है। जिन्हें ऐसा विपरीत विश्वास है कि एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य का कार्य

होता है, वे महा अज्ञानी हैं; उन्हें वस्तुस्थिति की खबर नहीं है, वे जैनधर्म को नहीं जानते।

अब, निमित्त तर्क उपस्थित करता है -

सूर सोम मणि अग्नि के, निमित्त लखें ये नैन।

अन्धकार में कित गयो, उपादान दृग दैन ॥ 26 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि सूर्य, चन्द्रमा, मणि अथवा अग्नि का निमित्त हो तो आँख देख सकती है। यदि उपादान देखने का काम कर सकता हो तो अन्धकार में उसकी देखने की शक्ति कहाँ चली जाती है? अर्थात् अन्धकार में आँख से क्यों नहीं दिखाई देता है?

दोहा 26 का प्रवचन

तू सर्वत्र 'मैं-मैं' करता है और यह कहता है कि सब कुछ मेरी (उपादान की) शक्ति से ही होता है परन्तु हे उपादान! तू देखने का काम तो सूर्य, चन्द्र, मणि अथवा दीपक के निमित्त से ही कर सकता है। यदि तेरे ज्ञान से ही जानना होता हो तो अन्धेरे में तेरा ज्ञान कहाँ चला जाता है? दीपक इत्यादि के निमित्त के बिना तू अन्धेरे में क्यों नहीं देख सकता और फिर बिना पुस्तक के तूझे ज्ञान क्यों नहीं होता? क्या बिना शास्त्र के मात्र ज्ञान में से ज्ञान होता है? देखो! यदि सामने समयसार शास्त्र न रख दिया जाए तो क्या इसके बिना ज्ञान होता है? यदि ज्ञान से ही ज्ञान होता हो तो सामने शास्त्र क्यों रखते हो? तात्पर्य यह है कि सर्वत्र मेरा ही बल है। तू अपने 'अहं' को छोड़ और यह स्वीकार कर कि मेरी भी शक्ति है - ऐसा निमित्त का तर्क है।

उपादान का उत्तर -

सूर सोम मणि अग्नि जो, करे अनेक प्रकाश ।

नैन शक्ति बिना ना लखैं, अंधकार सम भास ॥ 27 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि सूर्य, चन्द्रमा, मणि और दीपक अनेक प्रकार का प्रकाश करते हैं, तथापि देखने की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं दिखाई देता; सब अन्धकार -सा भासित होता है ।

दोहा 27 पर प्रवचन

अरे भाई! किसी परवस्तु के द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान का प्रकाश करनेवाला तो ज्ञानस्वरूपी आत्मा है और प्रकाश इत्यादि का प्रकाशक भी आत्मा ही है। सूर्य इत्यादि से ज्ञान प्रकाशित नहीं होता अर्थात् पर निमित्त से आत्मा ज्ञान नहीं करता। हे निमित्त! यदि सूर्य, चन्द्रमा या दीपक से दिखाई देता हो तो अन्धे के पास उन सबको रखने पर उसमें देखने की शक्ति आ जानी चाहिए, किन्तु सूर्य इत्यादि सब कुछ होने पर भी अन्धे को क्यों नहीं दिखाई देता? क्योंकि उपादान में ही जानने की शक्ति नहीं है; इसलिए वह नहीं जान सकता। यदि उपादान में जानने की शक्ति हो तो (बिल्ली इत्यादिक) अन्धे में भी देख सकते हैं। जहाँ प्राणी की आँख ही जानने की शक्ति से युक्त है, वहाँ उसे कोई अन्धेरा नहीं रोक सकता।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इत्यादि आत्मा के गुणों का चैतन्यप्रकाश किसी संयोग से प्रगट नहीं होता, अपितु आत्मस्वभाव से ही वह प्रगट होता है। जहाँ आत्मा स्वयं पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमन करता है, वहाँ

उसे कोई निमित्त रोकनेवाला अथवा सहायक नहीं है। तात्पर्य यह है कि निमित्त का दूसरों पर कोई बल नहीं है।

इसी प्रकार शास्त्र की सहायता से भी ज्ञान नहीं होता। समयसार शास्त्र हजारों आदमियों के पास एक-सा ही होता है। यदि शास्त्र से ज्ञान होता हो तो उन सबको एक-सा ही ज्ञान होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। एक ही शास्त्र के होने पर भी कोई सीधा अर्थ समझकर मिथ्यात्व का नाश करता है और कोई विपरीत अर्थ करके मिथ्यात्व को पुष्ट करता है - ऐसी स्थिति में शास्त्र क्या करेगा? समझ तो अपने ज्ञान में से ही निकाली जाती है। किसी शास्त्र में से ज्ञान नहीं हो सकता। मैं अपने ज्ञान के द्वारा अपने स्वतन्त्र आत्मस्वभाव की पहचान करूँ तो मुझे धर्म का लाभ हो सकता है। जो किसी संयोग से लाभ मानते हैं, वे तो अज्ञानी हैं।

अहाहा! देखो तो उपादानस्वभाव की कितनी शक्ति है! कहीं भी किञ्चित्मात्र भी पराधीनता नहीं है - ऐसे उपादानस्वरूप को पहचानकर, जो उसका आश्रय करता है, वह अल्प काल में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जीवों ने अनादि काल से अपनी शक्ति की पहचान ही नहीं की; इसलिए पर की आवश्यकता मान बैठे हैं और पराधीन होकर दुःखी हो रहे हैं। यहाँ जिस प्रकार कहा जाता है, उसी प्रकार अपने को स्वाधीनरूप में सर्व प्रथम पहिचानना चाहिए, यही मुक्ति का मार्ग है।

निमित्त का तर्क -

कहे निमित्त वे जीव को, मो बिन जग के माहिं ।

सबै हमारे वश परे, हम बिन मुक्ति न जाहिं ॥ 28 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि मेरे बिना जगत में मात्र जीव क्या कर सकता है ? सभी मेरे वश में हैं; मेरे बिना जीव, मोक्ष भी नहीं जा सकता।

दोहा 28 पर प्रवचन

बिना निमित्त के जीव, मुक्ति को नहीं पाता। पहले मनुष्य शरीर का निमित्त; फिर देव, शास्त्र, गुरु का निमित्त; फिर मुनिदशा में महाव्रतादि के शुभराग का निमित्त; इस प्रकार समस्त निमित्तों की परम्परा के बिना जीव, मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। क्या बीच में व्रतादिक पुण्य आये बिना कोई जीव, मुक्त हो सकता है ? कदापि नहीं। इससे सिद्ध है कि पुण्य निमित्त है और उसी के बल से जीव मुक्ति प्राप्त करता है - यह निमित्त का तर्क है।

उपादान का उत्तर -

उपादान कहै रे निमित्त! ऐसे बोल न बोल।

तोकों तज निज भजत हैं, ते ही करें किलोल ॥ 29 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि हे निमित्त! ऐसी बात मत कर। तेरी दृष्टि को छोड़कर जो जीव अपना भजन करता है, वही किलोल (आनन्द) करता है।

दोहा 29 पर प्रवचन

हे निमित्त! तेरे प्रताप से जीव, मुक्ति को पाता है, इस व्यर्थ प्रलाप को रहने दे, क्योंकि शरीर, देव-शास्त्र-गुरु अथवा पञ्च महाव्रत इन सब निमित्तों के लक्ष्य से तो जीव को राग ही होता है और उसे संसार में परिभ्रमण करना होता है। जो जीव सब

निमित्तों के लक्ष्य को छोड़कर और पञ्च महाव्रतों के विकल्प को भी छोड़कर, अपने अखण्डानन्दी आत्मस्वभाव की भावना करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक अन्तरङ्ग में स्थिरता करता है, वही जीव, मुक्ति को पाता है और वही परमानन्द को भोगता है। निमित्त के लक्ष्य से आनन्दानुभव नहीं हो सकता। जो निमित्त की दृष्टि में रुक जाते हैं, वे मुक्ति को नहीं पाते। इस प्रकार निमित्त के बलवान् होने का तर्क खण्डित हो गया।

निमित्त कहता है -

कहै निमित्त हमको तजै, ते कैसे शिव जात।

पंच महाव्रत प्रगट हैं, और हु क्रिया विख्यात ॥ 30 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि मुझे छोड़कर कोई मोक्ष कैसे जा सकता है ? पञ्च महाव्रत तो प्रगट है ही और दूसरी क्रियाएँ भी प्रसिद्ध हैं, जिन्हें लोग मोक्ष का कारण मानते हैं।

दोहा 30 पर प्रवचन

शास्त्रों में तो निमित्त के पक्ष में पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं, तब फिर आप निमित्त की सहायता से इन्कार कैसे करते हैं ? पञ्च महाव्रत, समिति, गुप्ति इत्यादि का शास्त्रों में विशद वर्णन है। क्या उनको धारण किये बिना जीव, मोक्ष को जा सकता है ? मुझे छोड़कर जीव, मोक्ष जा ही नहीं सकता ! अहिंसादि पञ्च महाव्रतों में पर का लक्ष्य करना होता है या नहीं ?

पञ्च महाव्रत में परलक्ष्य को लेकर जो राग का विकल्प उठता है, उसे आगे रखकर निमित्त कहता है कि क्या पञ्च महाव्रत

के राग के बिना मुक्ति होती है? वस्तुतः बात यह है कि पञ्च महाव्रत के शुभराग से मुक्ति को माननेवाले अज्ञानी बहुत हैं; इसलिए निमित्त ने यह तर्क उपस्थित किया है। तर्क तो सभी रखे ही जाते हैं। यदि ऐसे विपरीत तर्क न हों तो जीव का संसार कैसे बना रहे? यह सब निमित्ताधीन दृष्टि के तर्क संसार को बनाये रखने के लिए ठीक हैं अर्थात् निमित्ताधीन दृष्टि से ही संसार टिका हुआ है। यदि निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़कर स्वभावदृष्टि करे तो संसार नहीं टिक सकता।

उपादान का उत्तर -

पंच महाव्रत जोग त्रय, और सकल व्यवहार।

पर कौ निमित्त खपाय के, तब पहुँचे भवपार ॥ 31 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि पञ्च महाव्रत, तीन योग (मन, वचन, काय) का लक्ष्य और समस्त व्यवहार तथा पर निमित्त के लक्ष्य को दूर करके ही जीव, भव से पार होता है।

दोहा 31 पर प्रवचन

ज्ञानमूर्ति आत्मा का जितना परलक्ष्य होता है, वह सब विकारभाव है; भले ही पञ्च महाव्रत हों, किन्तु वे भी विकार हैं। वह विकारभाव तथा अन्य जो-जो व्यवहारभाव हैं, जब उस सब राग को और निमित्त को स्वलक्ष्य द्वारा जीव छोड़ देता है, तभी वह मोक्ष को पाता है। पुण्य-पापरहित आत्मस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के द्वारा ही मुक्ति होती है; उसमें कहीं भी राग नहीं होता। पञ्च महाव्रत आस्रव है, विकार है; वह आत्मा का यथार्थ चारित्र नहीं है। जो उसे चारित्र का यथार्थ स्वरूप मानता है, वह

मिथ्यादृष्टि है। आत्मा का चारित्र धर्म उससे परे है। जगत के अज्ञानी जीवों को यह अति कठिन लग सकता है किन्तु यही परम सत्य, महा हितकारी है।

प्रश्न - पञ्च महाव्रत, चारित्र भले न हो किन्तु वह धर्म तो है या नहीं?

उत्तर - पञ्च महाव्रत, न तो चारित्र है और न धर्म ही। सर्व प्रकार के राग से रहित, मात्र ज्ञायकस्वभावी आत्मा की सम्यक् प्रतीति करने के बाद ही विशेष स्वरूप की स्थिरता करने से पूर्व पञ्च महाव्रत के शुभविकार का भाव मुनिदशा में आ जाता है किन्तु वह विकल्प है, राग है, विकार है; धर्म नहीं है क्योंकि वे भाव आत्मा के शुद्धचारित्र और केवलज्ञान को रोकते हैं। आत्मा के गुण को रोकनेवाले भावों में जो धर्म मानता है, वह आत्मा के पवित्र गुणों का घोर अनादर कर रहा है, उसे आत्मप्रतीति नहीं है।

आत्मप्रतीतियुक्त सातवें-छठे गुणस्थान में आत्मानुभव में झूलते हुए मुनि के पञ्च महाव्रत का जो विकल्प छठे गुणस्थान में होता है, वह राग है, आस्रव है। वह आत्मा के केवलज्ञान में विघ्न करता है। निमित्त ने कहा था कि वह मोक्ष में मदद करता है किन्तु उपादान कहता है कि वह मोक्ष में बाधक है। इन विकल्पों को तोड़कर, जीव जब स्वरूपस्थिरता की श्रेणी माँडता है, तब मोक्ष होता है किन्तु पञ्च महाव्रतादि को रखकर कभी मोक्ष नहीं होता; इसलिए हे निमित्त! तेरे द्वारा उपादान का एक भी कार्य नहीं होता।

निमित्त कहता है -

कहै निमित्त जग में बड्यो, मो तै बड़ौ न कोय ।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसाद तें होय ॥ 32 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि जगत् में मैं बड़ा हूँ, मुझसे बड़ा कोई नहीं है; तीन लोक का नाथ भी मेरी कृपा से होता है।

नोट - सम्यग्दर्शन की भूमिका में ज्ञानी जीव के शुभविकल्प आने पर तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है, इस दृष्टान्त को उपस्थित करके निमित्त अपनी बलबत्ता को प्रगट करना चाहता है।

दोहा 32 पर प्रवचन

आत्मस्वभाव से अजान और राग का पक्ष करनेवाला कहता है कि भले सम्यग्दृष्टि जीव, शुभराग का आदर नहीं करते, उसे अपना नहीं मानते; तथापि त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर का जो पद है, वह तो मेरी (निमित्त की) ही कृपा से मिलता है अर्थात् निमित्त की ओर लक्ष्य किये बिना तीर्थङ्करनामकर्म नहीं बँधता; अतः त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव भी मेरे ही कारण होते हैं - यह निमित्त पक्ष का तर्क है।

निमित्त के इस तर्क में भारी भूल है। निमित्त की कृपा से अर्थात् परलक्ष्यी राग से, जो जड़ परमाणुओं का बन्ध होता है, उससे कहीं तीर्थङ्कर पद प्रगट नहीं होता। तीर्थङ्कर पद तो आत्मा की वीतरागदशा से प्रगट होता है। निमित्ताधीन / पराश्रित दृष्टिवाला मानता है कि तीर्थङ्करनामकर्म के पुण्य परमाणुओं का बन्ध होने से कोई बड़प्पन है। इस प्रकार वह पुद्गल की धूलि से आत्मा

का बड़प्पन बतलाता है परन्तु निमित्त की ओर के जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्मरूप जड़ परमाणुओं का बन्ध होता है, वह भाव बड़ा है या उपादान की ओर के जिस भाव से उस राग को दूर करके पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान दशा प्रगट होती है, वह भाव बड़ा है ?

इतना ध्यान रखना चाहिए कि तीर्थङ्करनामकर्म के परमाणुओं का जो बन्ध होता है, वह रागभाव से होता है परन्तु वीतरागता और केवलज्ञान कहीं उस तीर्थङ्करनामकर्म के बन्ध के योग्य रागभाव से नहीं होता, अपितु उस रागभाव को दूर करके स्वभाव की स्थिरता से ही त्रिलोकपूज्य अरहन्त पद प्रगट होता है; इसलिए राग बड़ा नहीं है किन्तु राग को दूर करके पूर्ण पद को प्राप्त करके स्वरूप को प्रगट करना ही महान पद है।

उपादान का उत्तर -

उपादान कहै तू कहा, चहुँगति में ले जाय ।
तो प्रसाद तैं जीव सब, दुःखी होहिं रे भाय ॥ 33 ॥

अर्थ - उपादान कहता है - अरे निमित्त! तू कौन? तू तो जीव को चारों गतियों में ले जाता है। भाई! तेरी कृपा से तो सभी जीव दुःखी ही होते हैं।

दोहा 33 पर प्रवचन

निमित्त यह कहता था कि मेरी कृपा से जीव, त्रिलोकीनाथ होता है। उसके विरोध में उपादान कहता है कि तेरी कृपा से तो जीव, संसार की चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध होता है, वह भाव भी संसार का कारण

है। इस बात को ध्यान देकर बराबर समझना चाहिए, क्योंकि यह थोड़ी कठिन-सी बात है।

जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है, वह भाव विकार है, संसार है क्योंकि जिस भाव से नया बन्ध हुआ, उस राग के कारण जीव को नया भव ग्रहण करना पड़ता है; इसलिए निमित्त की कृपा से अर्थात् राग से जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। राग का फल संसार है। यद्यपि तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो, इस प्रकार का राग, आत्मप्रतीतियुक्त सम्यग्दृष्टि के ही हो सकता है; तथापि वह तीर्थङ्करनामकर्म के बन्ध के राग से प्रसन्न नहीं होते, प्रत्युत उसे हानिकर्ता ही मानते हैं। जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है, उस भाव से तीर्थङ्कर पद प्रगट नहीं होता, किन्तु उस भाव के नाश से केवलज्ञान और तीर्थङ्कर पद प्रगट होता है।

निमित्त ने राग की ओर से तर्क उपस्थित किया था और उपादान, स्वभाव की ओर से तर्क उपस्थित करता है। सम्यग्ज्ञान के द्वारा इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है कि निमित्त का लक्ष्य करके होनेवाला तीर्थङ्कर प्रकृति का राग, भवभ्रमण अर्थात् संसार-परिभ्रमण का कारण है और उपादानस्वरूप आत्मा के लक्ष्य से स्थिरता का होना मोक्ष का कारण है। निमित्त के लक्ष्य से होनेवाला भाव, उपादानस्वरूप की स्थिरता को रोकनेवाला है। किसी भी प्रकार का रागभाव, संसार का ही कारण है, फिर चाहे वह राग तिर्यञ्चपर्याय का हो अथवा तीर्थङ्करप्रकृति का हो। देखो, श्रेणिक राजा को आत्मप्रतीति थी, तथापि वे राग में अटके रहे थे;

इसलिए तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होने पर भी उन्हें दो भव धारण करने पड़ेंगे।

प्रश्न – दो भव ग्रहण करना पड़े, यह भले ही अच्छा न हो, किन्तु जिस भव में तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध करता है, यदि उसी भव से मोक्ष प्राप्त करे तो जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हुआ, वह भाव अच्छा है या नहीं?

उत्तर – सिद्धान्त में अन्तर नहीं पड़ता। ऊपर कहा गया है कि 'किसी भी प्रकार का रागभाव हो, वह संसार का ही कारण है।' भले ही कोई जीव, जिस भव में तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध करता है, उसी भव से मोक्ष जाए, तथापि जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है, वह तो रागभाव ही है और वह रागभाव, केवलज्ञान और मोक्ष को रोकनेवाला है। जब उस राग को दूर किया जाता है, तब केवलज्ञानी तीर्थङ्कर होता है।

प्रश्न – भले ही तीर्थङ्कर प्रकृति का राग बुरा हो, किन्तु जिस जीव ने तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध किया है, उस जीव को केवलज्ञान तो अवश्य ही होता है। तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध करने से इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि वह जीव, केवलज्ञान और मोक्ष अवश्य प्राप्त करेगा; इसलिए निमित्त का इतना बल तो मानोगे या नहीं?

उत्तर – अरे भाई! केवलज्ञान और मोक्षदशा, आत्मा के सम्यग्दर्शनादि गुणों से होती है या जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हुआ, उस रागभाव से होती है? रागभाव से मोक्ष का होना निश्चित नहीं है किन्तु जिस जीव के सम्यग्दर्शन का अटूट बल है,

उसको लेकर वह अल्प काल में ही मुक्ति प्राप्त करेगा - यह निश्चित ही है।

जो राग से धर्म मानता है और राग से केवलज्ञान का होना मानता है, वह तीर्थङ्करप्रकृति तो नहीं बाँधता, किन्तु तिर्यञ्च आदि तुच्छ प्रकृति को बाँधता है क्योंकि उसकी मान्यता में राग का आदर है; इसलिए वह वीतरागस्वभाव का अनादर करता हुआ अपनी ज्ञानशक्ति को हारकर हल्की गति में चला जाता है।

यह भी एक समझने योग्य न्याय है कि जिस कारण से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हुआ था, उस कारण को दूर किये बिना, वह प्रकृति फल भी नहीं देती। जिस तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है, वह तब तक फल नहीं देती, जब तक जिस रागभाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध किया था, उससे विरुद्धभाव के द्वारा उस रागभाव का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान प्रगट नहीं किया जाता और वह फल भी आत्मा को नहीं मिलता, किन्तु बाह्य में समवसरणादि की रचना के रूप में प्रगट होता है।

इस प्रकार जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध किया था, वह भाव तो केवलज्ञान होने पर छूट ही जाता है; वह भाव, केवलज्ञान में क्या सहायता कर सकता है? इसलिए हे निमित्त! तेरी दृष्टि से जीव, तीन लोक का नाथ तो नहीं होता, किन्तु अज्ञानभाव से वह तीन लोक में परिभ्रमण करता है। तात्पर्य यह है कि तू जीव को चार गतियों में ले जाता है।

उपादानदृष्टि का अर्थ है स्वाधीन स्वभाव की स्वीकृति। 'मैं परिपूर्ण स्वरूप हूँ, अपने पवित्र दशारूपी कार्य को बिना किसी की

सहायता के मैं ही अपनी शक्ति से करता हूँ' - इस प्रकार अपने स्वभाव की श्रद्धा का बल है, वह उपादानदृष्टि है और मुक्ति का उपाय है।

निमित्तदृष्टि का अर्थ है अपने स्वभाव को भूलकर, पर द्रव्यानुसारी भाव होना। 'स्वाधीन आत्मा के लक्ष्य को भूलकर जो भाव होते हैं, वे सब पराश्रित भाव हैं' और वे पराश्रितभाव संसार के कारण हैं। साक्षात् तीर्थङ्कर के लक्ष्य से जो भाव होते हैं, वे भाव भी दुःखरूप और संसार के ही कारण हैं। पुण्य का राग भी परलक्ष्य से ही होता है; इसलिए वह दुःख और संसार का ही कारण है। अतः पराधीन दुःखरूप होने से निमित्तदृष्टि त्यागने योग्य है और स्वाधीन सुखरूप होने से उपादानस्वभावदृष्टि ही अङ्गीकार करने योग्य है।

अरे भाई! यह तो श्री भगवान के पास से आये हुए हीरे, कसौटी पर चढ़ते हैं। यदि किसी भी न्याय की विपरीत बात को पकड़ रखे तो संसार होता है और यदि यथार्थ सन्धि करके बराबर समझे तो मुक्ति होती है। अहा! यह बात तो वीतराग भगवान ही करते हैं। वीतराग के सेवक भी तो वीतराग ही हैं। वीतराग और वीतराग के सेवकों के अतिरिक्त यह बात करने के लिए कोई समर्थ नहीं है।

त्रैकालिक स्वभाव होने पर भी यह आत्मा अनादि काल से क्यों परिभ्रमण कर रहा है? बात यह है कि जीव ने अनादि काल से अपनी भूल को नहीं पहिचाना। बन्ध-मुक्त स्वयं अपने भाव से ही होता है, तथापि पर के कारण से अपने को बन्ध-मुक्त मानता है।

अनादि काल की यह महा विपरीत शल्य रह गयी है कि पुण्य से और निमित्तों से लाभ होता है परन्तु भाई! आत्मा में अनादि काल से किस प्रकार की भूल है और वह किस कारण से है? - यह जानकर, उसे दूर किये बिना नहीं चल सकता। जीव यह मानता है कि पुण्य अच्छा और पाप बुरा, किन्तु 'मेरा स्वभाव अच्छा और सब विभाव बुरे हैं' - इस प्रकार स्वभाव-परभाव के बीच के भेद को वह नहीं जानता। वास्तव में तो पुण्य और पाप दोनों एक ही प्रकार के अर्थात् विभावरूप भाव हैं; वे दोनों आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप को भूलकर, निमित्त की ओर सन्मुख होनेवाले भाव हैं, उसी के प्रकार हैं; उनमें से एक भी भाव स्वभावोन्मुखी नहीं हैं।

एक देव-शास्त्र-गुरु की ओर का शुभभाव और दूसरा स्त्री-कुटुम्ब-पैसा इत्यादि की ओर का अशुभभाव है। इन दोनों की ओर ढलते हुए भावों से अपना ज्ञान-आनन्दस्वरूप भिन्न है; इसे समझे बिना अनादि का महान भूलरूप अज्ञान दूर नहीं होता। यथार्थ ज्ञान में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्तरूप होते हैं। यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को निमित्तरूप न जाने तो अज्ञानी है और यदि यह माने कि उनसे अपने को लाभ होता है तो भी मिथ्यात्व है। 'कोई भी निमित्त मेरा कुछ कर देगा' - इस प्रकार की मान्यता महाभूल है और उसका फल दुःख ही है; इसलिए निमित्त के लक्ष्य से जीव, दुःखी ही होता है; सुखी नहीं होता।

इस बात को ठीक समझ लेना चाहिए कि 'निमित्त के लक्ष्य से दुःख है किन्तु निमित्त से दुःख नहीं है।' पैसा-स्त्री इत्यादि

निमित्त हैं, उससे जीव, दुःखी नहीं है किन्तु 'वह वस्तु मेरी है, उसमें मेरा सुख है, मैं उसका कर सकता हूँ' - इस प्रकार निमित्त का आश्रय करके, जीव दुःखी होता है। निमित्त का लक्ष्य होता है और निमित्त के लक्ष्य से दुःख होता है। किसी भी परनिमित्त का आलम्बन दुःख ही है; इसलिए ज्ञानानन्दस्वरूप से परिपूर्ण अपने उपादान को पहिचान कर, उसके लक्ष्य में एकाग्रता करना ही परम सुख है और यही मुक्ति का कारण है।

कुदेवादिक के लक्ष्य से अशुभभाव के कारण तो जीव, दुःखी होता ही है परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त के लक्ष्य से शुभभाव से भी जीव, दुःखी होता है, जो ऐसा कहा है तो हे उपादान! जीव, सुखी किस रीति से होता है?

इस प्रकार निमित्त पूछता है -

कहै निमित्त जो दुःख सहै, सो तुम हमहिं लगाय।

सुखी कौन तैं होत है, ताको देहु बताय ॥ 34 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि जीव जो दुःख सहन करता है, उसका दोष तो तुम हमारे ऊपर लगाते हो, किन्तु यह भी तो बताओ कि जीव, सुखी किससे होता है?

दोहा 34 पर प्रवचन

निमित्त के लक्ष्य से अशुभभाव करने से जीव दुःखी होता है परन्तु शुभभाव करके पुण्य बाँधे तो भी जीव दुःखी होता है - ऐसा कहा है, तब फिर जीव सुखी किस प्रकार होता है?

यदि उपादान का लक्ष्य करके उसे पहचाने तो जीव सुखी होता है। जब आत्मा सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने स्वभाव को

पहिचानकर, अपने में गुण प्रगट करता है, तब अधूरी अवस्था में शुभराग आता है और जहाँ राग होता है, वहाँ पर निमित्त होता ही है क्योंकि स्वभाव के लक्ष्य से राग नहीं होता। यदि आत्मस्वभाव की प्रतीति हो तो उस शुभराग को और शुभराग के निमित्त को अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि को व्यवहार से धर्म का कारण कहा जाता है परन्तु शुभराग, निमित्त अथवा व्यवहार आत्मा को वास्तव में लाभ करते हैं अथवा मुक्ति का कारण होते हैं - यह बात गलत है। राग-निमित्त और व्यवहार रहित, आत्मा के शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान तथा रमणता ही मोक्ष का सच्चा कारण है।

जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का भव मिलता है अथवा तीर्थङ्कर-प्रकृति का बन्ध होता है, वह भाव भी स्वभाव के सुख को चूक कर होता है; इसलिए दुःख ही है। जिस भाव से भव मिले और मुक्ति रुके, वह भाव विकार है - दुःख है। जितने दुःख होते हैं, वे सब सदा निमित्तोन्मुख होने से होते हैं। निमित्त तो परवस्तु है, वह दुःख नहीं देता, परन्तु जीव, स्वलक्ष्य को चूककर परलक्ष्य से दुःखी होता है। इस बात को उपादान ने दृढ़तापूर्वक सिद्ध कर दिया है; इसलिए अब निमित्त ने यह प्रश्न उठाया है कि मेरी ओर के तो सभी भावों से जीव, दुःखी ही होता है तो यह बताइये कि सुखी किससे होता है ?

इसके उत्तर में उपादान कहता है -

जो सुख को तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नाहिं।
ये सुख दुःख के मूल हैं, सुख अविनाशी माहिं ॥ 35 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि तू जिस सुख को सुख कहता है, वह तो सुख ही नहीं है; वह सुख तो दुःख का मूल है। आत्मा के अन्तरङ्ग में अविनाशी सुख है।

दोहा 35 पर प्रवचन

पिछले दोहे में निमित्त के कहने का यह आशय था कि एक आत्मा स्व को भूलकर, पर की ओर झुकाव करता है तो वह दुःखी होता है, तब सुखी कैसे होता है? अर्थात् जीव, परनिमित्त के लक्ष्य से शुभभाव करके, पुण्य बाँधकर, उसके फल में सुखी होता है; इसलिए जीव को सुखी होने में भी निमित्त की सहायता आवश्यक है। इसके उत्तर में उपादान उसकी 'मूलभूल' को बतलाता है कि हे भाई! तू जिस पुण्य के फल को सुख कहता है, वह सुख नहीं है; वह तो दुःख का ही मूल है। पुण्य को और पुण्य के फल को अपना स्वरूप मानकर, जीव मिथ्यात्वरूप महापाप की महापुष्टि करके, अनन्त संसार में दुःखी होता है; इसलिए वहाँ पर पुण्य को दुःख का ही मूल कहा है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों की ओर उन्मुख होना तो दुःख है ही, किन्तु पञ्च महाव्रतों का भाव भी आस्रव है, दुःख का मूल है।

स्वभाव की ओर जो भाव है, वही सुख का मूल है और निमित्त की ओर का जो भाव है, वही दुःख का मूल है। उच्च से उच्च पुण्यपरिणाम भी नाशवान है; इसलिए पुण्य सुखरूप नहीं है; आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र ही सुखरूप हैं। श्री प्रवचनसार में स्वर्ग के सुख को गरम-खौलते हुए घी के समान कहा है। जैसे, घी अपने स्वभाव से तो शीतलता करनेवाला है किन्तु अग्नि का

निमित्त पाकर स्वयं विकृत होने पर, वही घी जलाने का काम करता है; इसी प्रकार आत्मा का अनाकुल ज्ञानस्वभाव स्वयं सुखरूप है किन्तु जब वह स्वभाव से च्युत होकर स्वयं निमित्त का लक्ष्य करता है, तब आकुलता होती है; उसमें यदि शुभराग हो तो पुण्य है और अशुभराग हो तो पाप है परन्तु पुण्य उस खौलते हुए घी की तरह जीव को आकुलता में जलानेवाला है और पाप से तो साक्षात् अग्नि के समान नरकादि में जीव अत्यन्त दुःखी होता है।

इसलिए हे निमित्त! तू पुण्य के संयोग से जीव को सुख मानता है किन्तु उसमें सुख नहीं है, पुण्य के फल में पञ्चेन्द्रियों के विषयों के संयोग से जीव को किस प्रकार सुख होगा? उलटे पञ्चेन्द्रियों के विषय का लक्ष्य करने से तो जीव आकुलित होकर दुःख भोगता है; सुख तो आत्मा के अन्तर स्वभाव में है। अविनाशी ज्ञायकस्वभाव के लक्ष्य से अर्थात् उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता से ही जीव सुखी होता है; इसलिए अविनाशी उपादान स्वभाव को पहचान कर, उसके लक्ष्य में स्थिर होना चाहिए और निमित्त के लक्ष्य को छोड़ देना चाहिए। प्रथम से ही सत्य का स्वीकार करना चाहिए।

आत्मा को सुख चाहिए है, आत्मा को अपने सुख के लिए क्या किसी अन्य पदार्थ की सहायता की आवश्यकता है या अपने सुखस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्वयं रमण करने की आवश्यकता है? सुखी होने के लिए पहले उसका उपाय निश्चित करना ही होगा। यह निश्चय करने के लिए यह निमित्त-उपादान का संवाद चल रहा है।

यहाँ यह हजारों आत्मा आये हैं, सो किसलिए? यह सब सुख का मार्ग समझकर सुखी होने के लिए आये हैं। कोई भी आत्मा नरक में जाने और दुःखी होने की इच्छा नहीं करता।

सुख स्वाधीनता में होता है या पराधीनता में? यदि सुख पर के आधीन हो तो जब वह पर नष्ट हो जाए तो दुःख आ जाए, परन्तु सुख स्वाधीन है और वह आत्मा में ही स्वतन्त्ररूप में विद्यमान है। किसी परवस्तु की उपस्थिति से आत्मा को सुख मिलता है - यह मान्यता गलत है, पराधीनदृष्टि है और महा दुःख देनेवाली है। पैसा इत्यादि से मुझे सुख मिलता है अथवा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु से आत्मा को धर्म होता है; इस प्रकार जो परद्रव्य की आधीनता की मान्यता है, वह आत्मा को अपनी शक्ति में लूला, लङ्गड़ा बना देनेवाली है। भला ऐसा होना किसे अच्छा लगेगा? जो जीव, परवस्तु से अपने में सुख -दुःख मानता है, उस जीव ने अपने को शक्तिहीन लूला, लङ्गड़ा मान रखा है। जिनकी दृष्टि निमित्ताधीन है, वे आत्मशक्ति को नहीं पहचानते और इसीलिए वे जीव, चार गति में दुःखी हो रहे हैं।

जगत के जीव अपनी आत्मा की सामर्थ्य की सम्भाल नहीं करते और आत्मा को परावलम्बी मानकर उससे सुख-शान्ति मानते हैं किन्तु ऐसी मान्यता यथार्थ नहीं है। परावलम्बन में सुख-शान्ति है ही नहीं। स्वतन्त्रता की यथार्थ मान्यता के बिना स्वतन्त्र सुख कदापि नहीं मिल सकता; इसलिए परतन्त्रता की (निमित्ताधीनता की) श्रद्धा में दुःख ही है। धर्म अथवा सुख तो आत्मा की पहिचान के द्वारा ही होता है।

निमित्त ने यह तर्क उपस्थित किया था कि भाई! तुमने सम्पूर्ण दुःखों की पोट मेरे ऊपर रख दी है तो यह तो बताइये कि सुख-शान्ति कहाँ से मिलती है? सभी प्रकार की अनुकूलता हो तो सुख होता है न? तब उपादान ने उसके तर्क का निषेध करते हुए कहा कि अनुकूल सामग्री में आत्मा का सुख है ही नहीं? 'शरीर ठीक हो, निरोगता हो, युवा उम्र हो और भुक्त भोगी हो; यह सब पार करने के बाद मरने के समय शान्तिपूर्वक धर्म होता है', इस प्रकार की महा पराधीन दृष्टि से दुःखरूप संसार है। स्वाधीनता की दृष्टि से सत्समागम प्राप्त करके अन्तरङ्ग में धर्म समझने का उपाय न करे तो उसे धर्म प्राप्त नहीं होता और मुक्ति का उपाय नहीं मिलता; वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

सत् को समझने के अपूर्व सुयोग के समय जो समझने से इन्कार करता है, वह अपने स्वभाव का अनादर करके संयोगबुद्धि से असत् का आदर करके अनन्त संसार में दुःखी होता हुआ परिभ्रमण करता है और जिसने अन्तरङ्ग से समझने का उल्लास प्रगट करके स्वभाव का सत्कार किया, वह उपादान के बल से अल्प काल में संसार से मुक्त होकर परमसुख प्राप्त करता है।

स्वाधीनता समझने में सुख का उपाय है। तू अपनी अवस्था में भूल करता है, वह भूल तुझे कोई दूसरा नहीं कराता, परन्तु तूने अपने को भूलकर 'मुझे पर से सुख-दुःख होता है', इस प्रकार की विपरीत मान्यता कर रखी है; इसलिए दुःख है। तू ही भूल करनेवाला है और तू ही भूल मिटानेवाला है। स्वभाव को भूलकर तूने भूल की है, उस भूल को स्वभाव की पहिचान करके दूर कर दे; सुख तो तेरे

अविनाशी स्वरूप में ही भरा हुआ है, वह तुझे प्रगट हो जाएगा; इस प्रकार उपादान स्वाधीनता से कार्य करता है।

निमित्त का तर्क -

अविनाशी घट घट वसे, सुख क्यों विलसत नाहिं।

शुभ निमित्त के योग बिन, परे परे बिललाहिं ॥ 36 ॥

अर्थ - निमित्त कहता है कि अविनाशी सुख तो घट-घट में अर्थात् प्रत्येक जीव में विद्यमान है, तब फिर जीवों को सुख का विलास/सुख का भोग क्यों नहीं होता। शुभ निमित्त के योग के बिना जीव, क्षण-क्षण में दुःखी हो रहा है।

दोहा 36 पर प्रवचन

हे उपादान! तू कहता है - निमित्त से सुख नहीं मिलता और अविनाशी उपादान से ही सुख मिलता है तो सभी आत्माओं के स्वभाव में अविनाशी सुख तो है ही, तथापि वे सब उसे क्यों नहीं प्राप्त कर पाते? क्या यह सच नहीं है कि उन्हें योग्य निमित्त प्राप्त नहीं है। यदि आत्मा में ही अविनाशी सुख भरा हो तो सब जीव उसे क्यों नहीं भोगते और जीव बाह्य में सुख क्यों खोजता रहता है? उपादान तो सबको प्राप्त है किन्तु अनुकूल निमित्त मिलने पर ही जीव सुखी होता है। इस प्रकार निमित्त की ओर से अज्ञानियों के प्रश्न अनादि काल से चले आ रहे हैं और उपादान की पहिचान के बल से उन प्रश्नों को उड़ा देनेवाले ज्ञानी भी अनादि काल से हैं।

जिस आत्मा को स्वाधीन सुखस्वभाव का परिज्ञान नहीं है, वह इस प्रकार शङ्का करता है कि यदि सुख आत्मा में ही हो तो ऐसा

कौन जीव है, जिसे सुख भोगने की भावना नहीं होगी और तब फिर वह सुख को क्यों नहीं भोगेगा? इसलिए सुख के लिए अनुकूल निमित्त आवश्यक है और निमित्त के आधार पर ही आत्मा का सुख है। मानव देह, आठ वर्ष का काल, अच्छा क्षेत्र, निरोग शरीर और सत् श्रवण करानेवाला सत् पुरुष का सत्समागम - ये सब योग हों तो जीव धर्म को प्राप्त कर सुखी होता है किन्तु जीव को अच्छे निमित्त नहीं मिले; इसलिए सुख प्राप्त नहीं हुआ और निमित्त के अभाव में जीव एक के बाद एक दुःख भोगता ही रहता है; इसलिए सुख पाने के लिए जीव को निमित्त की सहायता आवश्यक है। इस प्रकार यह निमित्त का तर्क है।

उपादान का उत्तर -

शुभ निमित्त इह जीव को, मिल्यो कई भवसार।

पै इक सम्यग्दर्श बिन, भटकत फिरयो गँवार ॥ 37 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि शुभ निमित्त इस जीव को कई भवों में मिले, परन्तु एक सम्यग्दर्शन के बिना यह मूर्ख जीव, अज्ञानभाव से भटक रहा है।

दोहा 37 पर प्रवचन

इस दोहे में निमित्ताधीन दृष्टिवाले जीव को गँवार कहा है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है, वह गँवार है - अज्ञानी है। यह परम सत्य भाषा है। श्री सर्वज्ञ भगवान के पक्ष से और स्वभाव की साक्षी से अनन्त सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! जीव को सम्यग्दर्शन के बिना सुख नहीं होता। स्वयं ही अपने स्वभाव को भूल गया है

और पर के साथ सुख-दुःख का सम्बन्ध मान लिया है; इसीलिए जीव परिभ्रमण करता है और दुःखी होता है।

इस अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को अच्छे - उत्कृष्ट निमित्त मिले, साक्षात् श्री तीर्थङ्कर भगवान, उनका समवसरण (जिसमें इन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और सन्त मुनियों के झुण्ड के झुण्ड आते थे - ऐसी धर्मसभा) तथा दिव्यध्वनि, जिसमें उत्कृष्ट उपदेशों की मूसलधार वर्षा होती थी, उस दिव्यवाणी को भी सुना; तथापि तू अन्तरङ्ग की रुचि के अभाव से (निमित्तों के होने पर भी) धर्म को नहीं समझा। तूने उपादान की जागृति नहीं की; इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ।

हे भाई! जहाँ वस्तुस्वभाव ही स्वतन्त्र है, तब फिर उसमें निमित्त क्या करेगा? यदि जीव स्वयं अपने स्वभाव की पहिचान करे तो कोई निमित्त उसे रोकने के लिए समर्थ नहीं है और यदि जीव अपने स्वभाव को न पहिचाने तो कोई निमित्त उसे पहिचान करा देने के लिए समर्थ नहीं है।

अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते-करते प्रत्येक जीव, बड़ा राजा हुआ और समवसरण में विराजमान साक्षात् चैतन्यदेव श्री अरिहन्तभगवान की हीरा-माणिक के थाल में, कल्पवृक्षों के फल-फूलों से पूजा करते हुए इन्द्रों को देखा और स्वयं भी साक्षात् भगवान की पूजा की, किन्तु ज्ञानस्वभावी रागरहित अपने निरालम्बी आत्मस्वरूप को नहीं समझा; इसलिए सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ और गँवार होकर अज्ञानभाव से अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहा। 'भगवान भिन्न और मैं भिन्न हूँ; अपने स्वरूप से मैं भी भगवान

ही हूँ' – ऐसी यथार्थ पहचान के बिना, भगवान की पूजा करने से धर्म का लाभ नहीं होता। कहीं भगवान किसी को सम्यग्दर्शन दे नहीं देते। धर्म किसी के आशीर्वाद से नहीं मिलता, मात्र अपनी पहिचान से ही धर्म होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

'मैं आत्मा स्वतन्त्र भगवान हूँ, कोई परवस्तु मेरा कल्याण नहीं कर सकती। अपनी पहिचान के द्वारा ही अपना कल्याण करता हूँ' – इसके समझे बिना, जैन का द्रव्यलिङ्गी साधु हुआ, क्षमा धारण की, भगवान के पास गया, शास्त्रों को पढ़ा, किन्तु आत्मा की रुचि और प्रतीति किये बिना अनन्त दुःखी होकर संसार में परिभ्रमण किया। यदि उपादानस्वरूप आत्मा की प्रतीति स्वयं न करे तो निमित्त क्या कर सकते हैं ?

जैन का द्रव्यलिङ्ग और भगवान तो निमित्त हैं तथा वास्तव में क्षमा का शुभराग और शास्त्र का ज्ञान भी निमित्त है। ये सब निमित्त होने पर भी अपनी भूल के कारण ही जीव को सुख नहीं होता। एकमात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव को सुखी करने में कोई समर्थ नहीं है।

यदि निमित्त, जीव को सुखी न करता हो और उपादान से ही सुख प्रगट होता हो तो समस्त जीवों के स्वभाव में अविनाशी सुख भरा ही है, उसे वह क्यों नहीं भोगते; इस प्रकार निमित्त का प्रश्न है, उसके उत्तर में कहते हैं –

हे भाई! यह सच है कि सब जीवों के स्वभाव में अविनाशी सुख है किन्तु वह शक्तिरूप है और शक्ति का उपभोग नहीं

होता। जो जीव, अपनी शक्ति की सँभाल करते हैं, वे ही उसको भोगते हैं। यदि निमित्त से सुख प्रगट होता हो तो निमित्त तो बहुत से जीवों के होता है, तथापि उन सबके सुख क्यों प्रगट नहीं होता ?

अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक भवों में इस जीव को शुभ निमित्त मिले परन्तु एक पवित्र सम्यग्दर्शन के बिना जीव, अपने गँवारपने से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जिसे अपने स्वाधीन स्वभाव की पहिचान नहीं है और जो यह मानता है कि मेरा सुख मुझे देव-शास्त्र-गुरु अथवा शुभराग इत्यादि पर निमित्त दे देंगे, उसे यहाँ पर ग्रन्थकार ने गँवार-मूर्ख कहा है। रे गँवार! तू स्वभाव को भूलकर निमित्ताधीन दृष्टि से ही परिभ्रमण करता रहा है। अपने ही दोष से तूने परिभ्रमण किया है। तू यह मानता ही नहीं कि तुझमें स्वतन्त्र सुख है; इसलिए तुझे सुख का अनुभव नहीं होता। कर्मों ने तेरे सुख को नहीं दवा रखा है; इसलिए भाई! तू अपनी मान्यता को बदल दे।

शुभ निमित्त अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु। कुदेवादिक अशुभ निमित्त हैं, वे सुख के निमित्त के रूप में भी नहीं कहे जा सकते। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माननेवाले भी निमित्त के लक्ष्य से अटक रहे हैं।

निमित्ताधीन दृष्टिवाले को यहाँ गँवार कहा है; इसमें द्वेष नहीं, किन्तु करुणा है। पर्याय की भूल बताने के लिए गँवार कहा है। साथ ही यह समझाया कि हे भाई! तेरा गँवारपन तेरी अवस्था की भूल से है। स्वभाव से तो तू भगवान है; इसीलिए अपने स्वभाव की

पहिचान के द्वारा तू अपनी पर्याय के गँवारपने को दूर कर दे।

जो अपनी भूल को ही स्वीकार नहीं करते और निमित्तों का ही दोष निकाला करते हैं, वे अपनी भूल को दूर करने का प्रयत्न नहीं करते और इसीलिए उनका गँवारपन दूर नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना, मिथ्यादृष्टि होने से पागल जैसा होकर स्वभाव को भूल गया और निमित्तों की श्रद्धा की, परन्तु स्वोन्मुख होकर अपनी श्रद्धा नहीं की; इसलिए अनन्त संसार में भव धारण करके तू दुःख भोग रहा है।

‘अमुक निमित्त हो तो ऐसा हो’ – इस प्रकार पराधीनदृष्टि ही रखी; इसीलिए सुख नहीं हुआ। ‘परन्तु मैं स्वतन्त्र हूँ, अपने में अपने उपादान से मैं जो कुछ करूँ, वह हो; मुझे रोकने में कोई समर्थ नहीं’, इस प्रकार उपादान की सच्ची समझ से पराधीनदृष्टि का नाश करते ही जीव को अपने सुख का विलास होता है; इसलिए हे निमित्त! उपादान की जागृति से जीव को सुख होता है। जीव के सुखी होने में निमित्तों की कोई भी सहायता नहीं होती। जैसे, जहाँ चक्रवर्ती होता है, वहाँ चपरासी भी हाज़िर ही रहते हैं किन्तु उस पुरुष का चक्रवर्तित्व कहीं चपरासी के कारण नहीं है; इसी प्रकार जीव जब अपनी जागृति से सम्यग्दर्शनादि प्रगट करके सुखी होता है, तब निमित्त स्वयं उपस्थित होते हैं परन्तु वे जीव के सुख के कर्ता नहीं हैं। यदि जीव स्वयं सच्ची समझ न करे तो कोई भी निमित्त उसे सुखी करने में समर्थ नहीं है।

सच्चा निमित्त मिले बिना, सम्यग्ज्ञान नहीं होता अर्थात् जीव जब स्वयं ज्ञान करता है, तब सच्चे निमित्तों की उपस्थिति होती है।

यदि स्वयं न समझे और ज्ञान प्रगट न करे तो सत्समागम इत्यादि के संयोग को किसी भी प्रकार निमित्त भी नहीं मान सकते अर्थात् जीव स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट न करे तो निमित्त किसका? इसलिए कभी भी कोई भी कार्य निमित्त से नहीं होता; सभी कार्य सदा उपादान से ही होते हैं। इसलिए सुख भी उपादान की जागृति के द्वारा सम्यग्दर्शन से ही होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन से ही जीव को सुख प्रगट हो सकता है – ऐसी उपादान की बात को पात्र जीवों ने समझकर स्वीकार किया और निमित्त की हार हुई। जिज्ञासु पात्र जीव, उपादान-निमित्त के संवाद से एक के बाद दूसरी बात का निर्णय करता है और निर्णयपूर्वक स्वीकार करता है। इस प्रकार यहाँ तक तो निमित्त की हार हुई। अब कुछ समय बाद निमित्त हार जाएगा और वह स्वयं अपनी हार स्वीकार कर लेगा।

सम्यग्दर्शन तक तो यह बात है कि सम्यग्दर्शन से ही जीव को सुख होता है और सच्चे निमित्तों के उपस्थित होने पर भी सम्यग्दर्शन न होने के कारण ही जीव को दुःख है।

सम्यग्दर्शन की बात को स्वीकार कराने के बाद अब, सम्यक्चारित्र सम्बन्धी निमित्त की ओर का तर्क यह है –

सम्यग्दर्शन भये कहा, त्वरित मुक्ति में जाहिं ?

आगे ध्यान निमित्त है, ते शिव को पहुँचाहिं ॥ 38 ॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन होने से क्या जीव तत्काल मोक्ष में चला जाता है? नहीं; आगे भी ध्यान निमित्त है, जो मोक्ष में पहुँचाता है – यह निमित्त का तर्क है।

दोहा 38 पर प्रवचन

निमित्त कहता है कि यह सच है कि सम्यग्दर्शन से ही जीव को सुख का उपाय प्रगट होता है, सम्यग्दर्शन से ही मुक्ति का उपाय होता है लेकिन निमित्त के लक्ष्य से अर्थात् रागादिभावों से मोक्ष का उपाय नहीं होता। इस प्रकार पञ्च महाव्रत की क्रिया से धर्म होता है, देव-शास्त्र-गुरु अथवा पुण्य से लाभ होता है, तीर्थङ्कर प्रकृति का भाव अच्छा है, इस प्रकार का विपरीत मान्यता का तर्क निमित्त ने अब छोड़ दिया है किन्तु ऊपर की दशा में निमित्त का आधार है, ऐसा तर्क वह करता है।

सम्यग्दर्शन के बाद भी निमित्त बलवान है, मात्र सम्यग्दर्शन से ही मुक्ति नहीं हो जाती। सम्यग्दर्शन के बाद भी ध्यान करना पड़ता है, उस ध्यान में भेद का विकल्प उठता है - राग होता है; इसलिए वह भी निमित्त हुआ या नहीं? आत्मा की यथार्थ पहिचान होने के बाद स्थिरता होने पर भले ही महाव्रतादि के विकल्प को छोड़ दे, किन्तु वस्तु को ध्यान में तो रखना पड़ता ही है। वस्तु में स्थिरता करते हुए रागमिश्रितविचार आये बिना नहीं रहेंगे; इसलिए राग भी निमित्तरूप हुआ या नहीं? देखिये, निमित्त कहाँ तक जा पहुँचा? अन्त तक निमित्त की आवश्यकता होती है, इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त ही बलवान है। निमित्त का यह अन्तिम तर्क है।

निमित्त ने जो तर्क उपस्थित किया है, वह नय आदि के विकल्प के पक्ष का तर्क है। सम्यग्दर्शन के बाद स्थिरता करते हुए बीच में भेद का विकल्प आये बिना नहीं रहता। बीच में विकल्परूप व्यवहार आता है - यह बात सच है किन्तु वह विकल्प

मोक्षमार्ग में किञ्चित्मात्र भी सहायक नहीं है। निमित्त-दृष्टिवाला तो उस विकल्प को मोक्षमार्ग समझ लेता है, यही मिथ्यादृष्टि की 'मूल में भूल' है।

आत्मस्वभाव की दृष्टिवाला जीव, अभेद के पक्ष से समझता है अर्थात् जो भेद होता है अथवा राग होता है, उसे वह जानता है किन्तु मोक्षमार्ग के रूप में अथवा मोक्षमार्ग में सहायक के रूप में उसे स्वीकार नहीं करता और निमित्त को पकड़कर अज्ञानी जीव, भेद के पक्ष से बात करता है, उसे अभेद स्वभाव का भान नहीं है। इसलिए वह मानता है कि ध्यान करते हुए बीच में भेद-भङ्ग का विकल्प आये बिना नहीं रहता; इसलिए वह विकल्प ही ध्यान में सहायक है; इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में ही अन्तर है।

स्वाश्रय / स्वसन्मुख होकर ज्ञान में एकाग्र होना ध्यान है। एक गुण को लक्ष्य में लेकर विचार करना, सो भेद-भङ्ग है। यह भेद-भङ्ग बीच में आता ही है; इसलिए उस भेद के राग की सहायता से ही मोक्ष होता है - यह निमित्त का तर्क है। इस तर्क में पर से कोई सम्बन्ध नहीं रखा है; अब तो भीतर जो विकल्परूप व्यवहार बीच में आता है, उस व्यवहार को जो अज्ञानी मोक्षमार्ग के रूप में मानता है, उसी का यह तर्क है।

उपादान द्वारा निमित्त के तर्क का खण्डन -

छोर ध्यान की धारणा, मोर योग की रीत।

तोरि कर्म के जाल को, जोर लई शिव प्रीत ॥ 39 ॥

अर्थ - उपादान कहता है कि ध्यान की धारणा को छोड़कर,

योग की रीत को समेट कर, कर्मजाल को तोड़कर, जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा शिवपद की प्राप्ति करते हैं।

दोहा 39 पर प्रवचन

हे निमित्त! जो भेद का विकल्प उठता है, उसे तू मोक्ष का कारण कहता है किन्तु वह तो बन्ध का कारण है। जब जीव उस विकल्प को छोड़ता है, तभी मोक्ष होता है। सम्यग्दर्शन के बाद ध्यान का विकल्प उठता है, उसे छोड़कर मुक्ति होती है; उस विकल्प को रखकर कभी भी मुक्ति नहीं हो सकती। ध्यान की धारणा को छोड़कर अर्थात् स्वभाव में स्थिर होऊँ - ऐसा जो विकल्प उठता है, उसे भी छोड़कर, अभेद स्वरूप में स्थिर होने पर केवलज्ञान और मोक्ष होता है; इसलिए मात्र उपादान के बल से ही कार्य होता है, निमित्त से कार्य नहीं होता।

यहाँ पर उपादान को निश्चय और निमित्त को व्यवहार के रूप में लिया है। स्वभाव में एकाग्रतारूप अभेदपरिणति निश्चय है, वही उपादान है, वही मोक्ष का कारण है और जो भेदरूप विकल्प उठता है, वह व्यवहार है, निमित्त है; वह मोक्ष का कारण नहीं है। ध्यान की धारणा को छोड़ने से केवलज्ञान होता है तथा केवलज्ञान होने के बाद भी मन, वचन, काय के योग का कम्पन होता है, वह भी मोक्ष का कारण नहीं है; उस योग की क्रिया को तोड़-मरोड़कर अर्थात् उसका अभाव होकर मोक्ष होता है।

मन, वचन, काय के विकल्प को तोड़-मरोड़कर, स्वरूप के भीतर पुरुषार्थ करके, राग से छूटकर, अभेद स्वरूप में स्थिर होने पर, केवलज्ञान और अन्त में मुक्ति होती है।

उपादान ने स्वभाव की ओर से तर्क उपस्थित करके निमित्त के पराधीनता के तर्क को खण्डित कर दिया है। इस प्रकार 39 दोहों तक उपादान और निमित्त ने परस्पर तर्क उपस्थित किये। उन दोनों के तर्कों को बराबर समझ कर सम्यग्ज्ञानरूपी न्यायाधीश अपना निर्णय देता है कि उपादान, आत्मा की ओर से स्वाश्रित बात करनेवाला है और निमित्त, आत्मा को पराश्रित बतलाता है। इनमें से आत्मा और प्रत्येक वस्तु की स्वाधीनता बतानेवाले उपादान की बात बिलकुल सच है तथा आत्मा और प्रत्येक वस्तु की पराधीनता बतानेवाले निमित्त की बात बिलकुल गलत है; इसलिए निमित्त की पराजय घोषित की जाती है।

निमित्त के पक्षवाले की ओर से अन्तिम अपील की जाती है कि निमित्त की बात गलत क्यों है और निमित्त कैसे पराजित हो गया? देखिये, जब लोग धर्मसभा में एकत्रित होकर सत्समागम प्राप्त करते हैं, तब उनके अच्छे भाव होते हैं और जब वे घर पर होते हैं तो ऐसे अच्छे भाव नहीं होते। अच्छा निमित्त मिलने से अच्छे भाव होते हैं; इसलिए निमित्त का कुछ बल तो स्वीकार करना ही चाहिए।

उपादान इस अपील का खण्डन करता हुआ कहता है कि स्वयं बदलने से अपने भाव बदलते हैं; निमित्त के कारण किसी के भाव नहीं बदलते। उपादान के कार्य में निमित्त का अंशमात्र भी बल नहीं है। उपादान के कार्य में निमित्त की नास्ति है, वह उपादान के बाहर ही लौटता रहता है किन्तु उपादान में प्रवेश नहीं कर सकता और दूर से भी कोई असर, मदद अथवा प्रेरणा नहीं कर सकता।

यदि कोई यह कहे कि 'निमित्त, उपादान का कुछ भी नहीं करता, परन्तु जैसा निमित्त होता है, तदनुसार उपादान स्वयं परिणमन करता है' तो यह बात भी बिल्कुल गलत और वस्तु को पराधीन बतानेवाली है। निमित्तानुसार, उपादान परिणमन नहीं करता; उपादान स्वयं अपनी शक्ति से स्वाधीन परिणमन करता है अर्थात् योग्यतानुसार कार्य करता है।

सत्समागम के निमित्त का संयोग हुआ; इसलिए आपके भाव सुधर गये - यह बात नहीं है। सत्समागम का निमित्त होने पर भी किसी जीव को अपने भाव में सच्ची बात नहीं बैठती और उल्टा वह सत् का विरोध करके दुर्गति में जाता है क्योंकि उपादान के भाव स्वतन्त्र हैं। सत् निमित्त की सङ्गति होने पर भी यदि उपादान स्वयं जागृति न करे तो सत्य को नहीं समझा जा सकता और जो सत्य को समझते हैं, वे सब अपने उपादान की जागृति करके ही समझते हैं।

श्रीकेवली भगवान के समवसरण में करोड़ों जीव भगवान की वाणी सुनते हैं। वहाँ पर वाणी सबके लिए एक-सी होती है, फिर भी जो जीव अपने उपादान की जागृति करके जितना समझते हैं, उन जीवों के उतना ही निमित्त कहलाता है। कोई बारह अङ्ग का ज्ञान करता है तो उसके बारह अङ्गों के लिए भगवान की वाणी का निमित्त कहलाता है और कोई किञ्चित्मात्र भी नहीं समझता तो उसके लिए किञ्चित् भी निमित्त नहीं कहलाता है; कोई उल्टा समझता है तो उसकी उल्टी समझ में निमित्त कहलाता है। इससे सिद्ध होता है कि उपादान स्वाधीनरूप

से ही कार्य करता है; निमित्त तो मात्र आरोपरूप ही है।

यह जीव भगवान के पास और सच्चे गुरु के पास अनन्त बार गया, किन्तु तीसमारखाँ का बेटा स्वयं जागृत होकर अपने भीतर से भूल को दूर करे, तभी तो सत्य को समझेगा। कोई देव-शास्त्र-गुरु उसके आत्मा में प्रवेश करके तो भूल को बाहर नहीं निकाल देंगे।

जैसे, सिद्ध भगवान के ज्ञान-परिणमन में लोकालोक निमित्त है किन्तु क्या सिद्ध भगवान के ज्ञान को लोकालोक का कोई पदार्थ परिणमन कराता है अथवा उसका कोई असर भगवान पर होता है? - ऐसा तो कुछ नहीं होता। इस प्रकार सिद्ध भगवान के ज्ञान की तरह सर्वत्र समझ लेना चाहिए कि निमित्त, मात्र उपस्थितिरूप है; वह किसी को परिणमन नहीं कराता। अथवा उपादान पर उसका किञ्चित्मात्र भी असर नहीं होता; अकेले स्वभाव के अवलम्बन से ही जीव, धर्म प्राप्त करता है; कोई भी जीव, परावलम्बन से धर्म को प्राप्त नहीं करता।

इस सम्पूर्ण कथन का यही प्रयोजन है कि जीव की मुक्ति हो। इसलिए यहाँ मुख्यतः जीव के धर्म पर ही उपादान-निमित्त के स्वरूप को घटित किया है परन्तु तदनुसार ही जीव अपना अधर्मभाव भी अपनी उपादान की योग्यता से करता है और जगत की समस्त जड़ वस्तुओं की क्रिया भी उन जड़ वस्तुओं के उपादान से होती है। शरीर का हलन-चलन, शब्दों का बोला या लिखा जाना - यह सब परमाणु के ही उपादान से होता है, वहाँ निमित्त होने पर भी निमित्त उसमें कुछ भी नहीं करता। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

निमित्त द्वारा पराजय की स्वीकृति

अब, यहाँ पर सब बातों को स्वीकार करके निमित्त अपनी पराजय स्वीकार करता है -

तब निमित्त हार्यो तहाँ, अब नहिं जोर बसाय ।

उपादान शिव लोक में, पहुँच्यो कर्म खपाय ॥ 40 ॥

अर्थ - तब निमित्त हार गया। अब वह कुछ जोर नहीं करता और उपादान, कर्म का क्षय करके शिवलोक में (सिद्धपद में) पहुँच गया।

दोहा 40 पर प्रवचन

उपादान-निमित्त के संवाद द्वारा अनेक प्रकार से आत्मा के स्वतन्त्र स्वरूप की प्रतीति करके, उपादान पक्षवाला जीव अपनी सहज शक्ति को प्रगट करके मुक्ति में अकेला, संयोगरहित शुद्धरूप में रह गया। जो अपने स्वभाव से शुद्ध रहा, उसने अपने में से ही शुद्धता प्राप्त की है किन्तु जो राग-विकल्प इत्यादि छूट गये हैं, उनमें से शुद्धता को प्राप्त नहीं किया। कर्म और विकारभाव आदि का नाश करके तथा मनुष्यदेह, पाँच इन्द्रियाँ और देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि सबका सङ्ग छोड़कर, उपादानस्वरूप की एकाग्रता के बल से जीव ने अपनी शुद्धदशा को प्राप्त कर लिया।

प्रश्न - इस दोहे में लिखा है कि 'अब नहिं जोर बसाय' अर्थात् जीव, सिद्ध होने के बाद निमित्त का कुछ वश नहीं चलता, किन्तु जीव की विकारदशा में तो निमित्त का जोर चलता है न ?

उत्तर - नहीं, निमित्त तो परवस्तु है। आत्मा पर परवस्तु का जोर कदापि चल ही नहीं सकता, किन्तु जीव पहले अज्ञानदशा में निमित्त का बल मान रहा था और अब यथार्थ प्रतीति होने पर उसने उपादान-निमित्त दोनों की स्वतन्त्रता को जान लिया और अपनी स्वतन्त्रशक्ति सँभालकर स्वयं सिद्धदशा प्रगट कर ली। निमित्त हार गया, इसका मतलब यह है कि अज्ञानदशा में निमित्त की ही दृष्टि थी; ज्ञानदशा के प्रगट होने पर अज्ञान का नाश हो गया और निमित्त-दृष्टि दूर हो गयी; इसलिए यह कहा गया है कि निमित्त हार गया।

इस प्रकार निमित्ताधीन दृष्टि का नाश होने पर, उपादान को अपने में क्या लाभ हुआ ? यह बतलाते हैं -

उपादान जीत्यो तहाँ, निजबल कर परकाश ।

सुख अनन्त ध्रुव भोगवे, अन्त न वरन्यो तास ॥ 41 ॥

अर्थ - इस प्रकार निज बल का प्रकाश कर उपादान जीता। वह उपादान, अब उस अनन्त ध्रुव सुख को भोगता है, जिसका अन्त नहीं है।

दोहा 41 पर प्रवचन

आत्मा का स्वभाव, शुद्ध ध्रुव अविनाशी है; उस स्वभाव के बल से उपादान ने अपने केवलज्ञान का प्रकाश किया है और अब वह स्वाधीनता से अनन्त ध्रुव सुख को भोग रहा है। पहले निमित्ताधीन दृष्टि से पराधीनता के कारण परलक्ष्य करके दुःख भोग रहा था और अब स्वभाव को पहिचान कर उपादानदृष्टि से स्वाधीनतया शुद्धदशा में अनन्त काल के लिए सुखानुभव कर रहा है। सिद्धदशा

होने के बाद समय-समय पर स्वभाव में से ही आनन्द का भोग किया करता है। अपने सुख के लिए जीव को शरीर, पैसा इत्यादि परद्रव्यों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन किसी के न होने पर भी सिद्ध भगवान् स्वाधीनतया सम्पूर्ण सुखी हैं।

देखिये, यहाँ कहा है कि उपादान ने अपने बल का प्रकाश करके सुख प्राप्त किया है, अपने में जो शक्ति थी, उसे पहिचानकर, उसके द्वारा उस बल को प्रगट करके ही सुख प्राप्त हुआ है; किसी निमित्त की सहायता से सुख प्राप्त नहीं किया।

अब, तत्त्व स्वरूप को कहते हैं, उसमें बड़ा सुन्दर न्याय है -

उपादान अरु निमित्त ये, सब जीवन पै वीर।

जो निजशक्ति संभार ही सो पहुँचें भव तीर ॥ 42 ॥

अर्थ - उपादान और निमित्त - ये सभी जीवों के हैं किन्तु जो वीर अपनी उपादानशक्ति की सम्भाल करते हैं, वे भव के पार को प्राप्त होते हैं।

दोहा 42 पर प्रवचन

सभी जीव भगवान् हैं और अनन्त गुणवाले हैं। सभी आत्माओं की उपादानशक्ति समान है और सभी जीवों के बाह्य निमित्त भी हैं; इस प्रकार उपादान और निमित्त दोनों त्रिकाल सभी जीवों के हैं। ऐसा कोई आत्मा नहीं है, जिसमें उपादानशक्ति की पूर्णता न हो तथा ऐसा कोई आत्मा नहीं है कि जिसको निमित्त न हो। जैसा कार्य जीव स्वयं करता है, उस समय उसे अनुकूल निमित्त होता ही है। निमित्त होता अवश्य है किन्तु उपादान के कार्य में कुछ करता नहीं है।

उपादान और निमित्त दोनों अनादि-अनन्त हैं। जो अपने उपादान की जागृति करके धर्म समझते हैं, उनके सत् निमित्त होता है और जो जीव धर्म को नहीं समझते, उनके कर्म इत्यादि निमित्त कहलाते हैं। सिद्धों के भी परिणमन इत्यादि में काल, आकाश आदि का निमित्त है और ज्ञान में ज्ञेय के रूप में सारा जगत निमित्त है। किसी भी जगह अकेला उपादान नहीं होता, क्योंकि ज्ञान, स्व-पर को जानने की शक्तिवाला है; इसलिए वह उपादान और निमित्त दोनों को जानता है। यदि उपादान और निमित्त दोनों को न जाने तो ज्ञान असत् कहलायेगा, तथापि ध्यान रहे कि उपादान और निमित्त दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं; वे एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते।

उपादान और निमित्त - ये दोनों वस्तुएँ अपने-अपने अस्तित्व में हैं। जो जीव अपनी उपादानशक्ति को सँभालता है, उसी को सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट होकर मोक्ष होता है। जो जीव, उपादान को भूलकर निमित्त की ओर लक्ष्य करता है, वह अपनी शक्ति को भूलकर पर से भीख माँगनेवाला चौरासी का भिखारी है। परलक्ष्य से वह भिखारीपन दूर नहीं होता और जीव सुखी नहीं हो सकता। यदि जीव, अपने स्वभाव की स्वाधीनता को प्रतीति में ले तो सर्व परद्रव्यों का मुँह देखना दूर हो जाए और स्वभाव का स्वाधीन आनन्द प्रगट हो।

जब जीव ने स्वलक्ष्य करके शक्ति की सँभाल की, तब वह शक्ति प्रगट हुई अर्थात् सुख हुआ। उपादानशक्ति तो त्रिकाल है, वह मुक्ति का कारण नहीं, किन्तु उपादानशक्ति की सँभाल, मुक्ति

का कारण है। उपादानशक्ति की सँभाल ही दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है। पहले उपादानस्वभाव की श्रद्धा की कि मैं स्वयं अनन्तगुण-शक्ति का पिण्ड हूँ, पर से पृथक् हूँ; मुझे पर से कुछ भी नहीं लेना है किन्तु मेरे स्वभाव में से ही (सुख) प्रगट होता है – ऐसी प्रतीति और ज्ञान करके, उस स्वभाव में स्थिरता करना ही उपादानशक्ति की सँभाल है और वही मोक्ष का कारण है।

उपादानकारण और निमित्तकारण, ये दोनों पर्यायरूप हैं; द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं, उनमें निमित्त नहीं होता। **त्रैकालिकशक्ति, उपादान है और उस त्रैकालिकशक्ति की वर्तमान पर्याय, उपादानकारण है।** उपादानकारण अपनी पर्याय में कैसा कार्य करता है और उस समय किस प्रकार का परसंयोग होता है? – यह बताने के लिए परवस्तु को निमित्तकारण कहा गया है। परवस्तु को निमित्त कहकर उसका ज्ञान कराया है क्योंकि ज्ञान की शक्ति स्व-पर को जानने की है परन्तु परद्रव्य का कोई भी बल बताने के लिए उसे निमित्त नहीं कहा गया है।

जहाँ यह कहा गया है कि 'जीव ने ज्ञानावरणीकर्म का बन्ध किया है' – वहाँ वास्तव में यह बताने का आशय है कि जीव ने अपनी पर्याय में ज्ञान की हीनता की है परन्तु 'जीव, जड़ परमाणुओं का कर्ता है' – यह बताने का आशय नहीं है।

प्रश्न – उपादान तो सभी जीवों के त्रिकाल है – यह बात इस दोहे में बताई गयी है और इस संवाद में यह भी कहा गया है कि मात्र उपादान की शक्ति से ही कार्य होता है; यदि मात्र उपादान से ही कार्य होता हो तो अनन्त काल से उपादान के होने पर भी पहले

कभी शुद्धकार्य प्रगट नहीं किया था, फिर आज ही प्रगट करने का क्या कारण है?

उत्तर – जो त्रिकाल उपादान है, वह तो द्रव्यरूप है; वह सब जीवों के है परन्तु कार्य तो पर्याय में होता है। जब जो जीव अपनी उपादानशक्ति को सँभालता है, तब उस जीव को शुद्धता प्रगट हो जाती है। द्रव्य की शक्ति त्रिकाल है किन्तु जब स्वयं परिणति जागृत की, तब वह शक्ति, पर्यायरूप व्यक्त हो गयी। जब स्वयं स्वोन्मुखी रुचि और अपनी ओर के भाव के द्वारा अपनी परिणति को जागृत करता है, तब होती है; उसमें कोई कारण नहीं।

तात्पर्य यह है कि वास्तव में जैसे द्रव्य-गुण अकारणीय हैं, उसी प्रकार शुद्ध अथवा अशुद्धपर्याय भी अकारणीय है। **शुद्ध अथवा अशुद्धपर्याय उस-उस समय में स्वयं स्वतः होती है; उसमें पूर्वापर की दशा अथवा कोई परद्रव्य कारण नहीं है। पर्याय का कारण, पर्याय स्वयं ही है।** पर्याय अपनी शक्ति से जिस समय जागृत होती है, उस समय जागृत हो सकती है। जिस पर्याय में जितना स्वभाव की ओर का बल होता है अर्थात् जितने अंश में स्वसमयरूप परिणमन करती है, उस पर्याय में उतनी शुद्धता होती है। **कारण-कार्य एक ही समय में अभेद है।**

यहाँ पर प्रत्येक पर्याय में पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता बताई गयी है। पहली पर्याय के मिथ्यात्वरूप होने पर भी दूसरे समय में स्वस्वरूप की प्रतीति करके सम्यक्त्वरूप पर्याय प्रगट हो सकती है। यहाँ कोई पूछ सकता है कि जो सम्यक्त्व पहली पर्याय में नहीं था, वह दूसरी पर्याय में कहाँ से आ गया?

इसका उत्तर यह है कि उस समय की पर्याय की स्वतन्त्र सामर्थ्य प्रगट होने से सम्यक्त्व हुआ है; पूर्व पर्याय, नयी पर्याय की कर्ता नहीं है परन्तु नयी प्रगट होनेवाली अवस्था स्वयं ही अपने पुरुषार्थ की योग्यता से सम्यक्त्वरूप हुई है। जिस समय जीव, पुरुषार्थ करता है, उस समय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; उसमें कोई कारण नहीं है। पर्याय का पुरुषार्थ स्वयं ही सम्यग्दर्शन का कारण है और वह पर्याय, द्रव्य में से ही प्रगट होती है; इसलिए अभेद विवक्षा से द्रव्यस्वभाव ही सम्यग्दर्शन का कारण है।

उपादान की महिमा -

भैया महिमा ब्रह्म की, कैसे वरनी जाय ?

वचन अगोचर वस्तु है, कहिवो वचन बताय ॥ 43 ॥

अर्थ - ग्रन्थकार भैया भगवतीदासजी आत्मस्वभाव की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भाई! ब्रह्म की (आत्मस्वभाव की) महिमा का वर्णन कैसे किया जा सकता है? वह वस्तु तो वचन अगोचर है, उसे किन वचनों के द्वारा बताया जा सकता है?

दोहा 43 पर प्रवचन

जो जीव, वस्तु के स्वतन्त्र उपादानस्वभाव को समझता है, उसे उस स्वभाव की महिमा प्रगट हुए बिना नहीं रहती। अहा! ऐसा अच्छा उपादानस्वभाव! अनादि-अनन्त सम्पूर्ण स्वतन्त्रता से वस्तु टिक रही है, ऐसे वस्तुस्वभाव का वचन से कैसे वर्णन किया जा सकता है? वचन से उसकी महिमा का पार नहीं आ सकता। ज्ञान के द्वारा ही उसकी यथार्थ महिमा जानी जा सकती है। स्वभाव की महिमा बहुत है, वह वचन से परे है, फिर भी उसे

वचन के द्वारा पूरा कैसे कहा जा सकता है? इसलिए हे भाई! तू अपनी ज्ञानसामर्थ्य के द्वारा अपने स्वभाव को समझ! यदि तू स्वयं समझे तो अपने स्वभाव का पार पाये। एक ही समय में अनादि संसार का नाश करके, जिसके बल से परम पवित्र परमात्मदशा प्रगट होती है, ऐसे भगवान आत्मा के स्वभाव की महिमा को हम कहाँ तक कहें! हे भव्य जीवों! तुम स्वयं स्वभाव को समझो!

अब, ग्रन्थकार इस संवाद की सुन्दरता को बतलाते हैं और यह भी बतलाते हैं कि इस संवाद से ज्ञानी और अज्ञानी को किस प्रकार का अभिप्राय होगा? -

उपादान अरु निमित्त को, सरस बन्यौ संवाद।

समदृष्टि को सरल है, मूर्ख को बकवाद ॥ 44 ॥

अर्थ - उपादान और निमित्त का यह सुन्दर संवाद बना है। यह सम्यग्दृष्टि के लिए सरल है और मूर्ख (मिथ्यादृष्टि) के लिए बकवाद मालूम होगा।

दोहा 44 पर प्रवचन

उपादान-निमित्त के सच्चे स्वरूप को बतानेवाला, आत्मा के सहज स्वतन्त्र स्वभाव का यह वर्णन बहुत ही अच्छा है। जो जीव, वस्तु के स्वाधीन स्वरूप को समझते हैं, उन सच्ची दृष्टिवाले जीवों के लिए तो यह सुगम है, वे ऐसी वस्तु की स्वतन्त्रता को समझकर आनन्द करेंगे, किन्तु जिसे वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है और जो आत्मा को पराधीन मानता है, उस मूर्ख/अज्ञानी को तो यह बात केवल बकवाद मालूम होगी; वह वस्तु के स्वतन्त्र स्वभाव की महिमा को नहीं जान सकता।

ज्ञानी जीव, प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न और स्वभाव से देखते हैं किन्तु अज्ञानी, संयोगबुद्धि से देखते हैं; इसलिए वह संयोग से कार्य होता है, इस प्रकार मिथ्या मानते हैं। ज्ञानी ही इस बात को यथार्थ रीति से जानते हैं कि वस्तु पर से भिन्न असंयोगी है और उसका कार्य भी स्वतन्त्र अपनी शक्ति से ही होता है। अज्ञानी को तो ऐसा लगेगा कि भला यह किसकी बात है? क्या आत्मा को कोई सहायता नहीं कर सकता? किन्तु भाई! यह बात तेरे ही स्वरूप की है। निज स्वरूप की प्रतीति के बिना तू अनादि काल से दुःख में परिभ्रमण कर रहा है, तेरा यह परिभ्रमण कैसे दूर हो और सच्चा सुख प्रगट होकर मुक्ति कैसे हो? - यह बताया जाता है। संयोगबुद्धि से परपदार्थों को सहायक मानकर तू अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है। अब, ज्ञानीजन तुझे पर से तेरा भिन्न स्वाधीन स्वरूप बतलाकर, उस विपरीत मान्यता को छोड़ने का उपदेश देते हैं।

ज्ञानीजन तुझे कुछ देते नहीं है, तू ही अपना तारनहार है। भाई! तेरी असमझ से ही तेरा बिगाड़ है और सच्ची समझ से ही तेरा सुधार है। यदि जीव अपनी इस स्वाधीनता को समझ ले तो अपनी महिमा ज्ञात हो जाए, किन्तु जिसे अपनी स्वाधीनता समझ में नहीं आती, उसे यह संवाद बकवादरूप मालूम होगा। जो जिसकी महिमा को जानता है, वह तत्सम्बन्धी बात को बड़े ही चाव से सुनता है परन्तु जिसकी महिमा को नहीं जानता है, उसकी बात नहीं रुचती। इस सम्बन्ध में यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है -

पहले जमाने में जब बेलदार लोग सारे दिन मजदूरी करके घर आते और सब एकत्रित होकर बैठते, तब उस समय उनका पुरोहित

उन्हें उनके बाप-दादाओं की पुरानी कथा सुनाता हुआ कहने लगता कि तुम्हारी चौथी पीढ़ी का बाप तो बहुत बड़ा राज्याधिकारी था। बेलदार लोग तो सारे दिन मजदूरी करने से थके होते थे; इसलिए जब पुरोहित उनके बाप-दादाओं की बात करता, तब वे झोंका खाने लगते और पुरोहित से कहने लगते कि 'हाँ, बापू कहते जाइये।' जब बेलदार लोग सुनने पर ध्यान नहीं देते तो पुरोहित कहता कि अरे, जरा सुनो तो, मैं तुम्हारे बाप-दादाओं के बड़प्पन की बात कह रहा हूँ; तब बेलदार लोग कहते कि हाँ महाराज! कहते जाइये अर्थात् आप तो अपनी बात कहते जाइये। तब पुरोहित कहता कि अरे भाई! यह तो तुम्हें सुनाने को कह रहा हूँ, मुझे तो सब मालूम ही है।

इसी प्रकार यहाँ पर संसार की थकान से थके हुए जीवों को ज्ञानी गुरु उनके स्वभाव की अपूर्व महिमा बतलाते हैं परन्तु जिसे स्वभाव की महिमा की खबर नहीं है और स्वभाव की महिमा की रुचि नहीं है, उन बेलदार जैसे जीवों को स्वभाव की महिमा सुनने की उमङ्ग नहीं होती अर्थात् उनके लिए क्या तो उपादान और क्या निमित्त और क्या वस्तु की स्वतन्त्रता? - यह सब बकवाद-सा ही मालूम होता है। वे सब आत्मा की परवाह न करनेवाले बेलदारों की तरह संसार के मजदूर हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तेरा स्वभाव क्या है? विकार क्या है और वह विकार कैसे दूर हो सकता है? यह तुझे समझाते हैं; इसलिए तू अपने स्वभाव की महिमा को जानकर विवेकपूर्वक समझ, तो तेरा संसार परिभ्रमण का दुःख दूर हो जाएगा और तुझे

शान्ति प्राप्त होगी। यह तेरे ही सुख के लिए कहा जा रहा है और तेरे ही स्वभाव की महिमा बतलाई जा रही है; इसलिए तू ठीक निर्णय करके समझ। जो जीव जिज्ञासु है, उसे श्रीगुरु की ऐसी बात सुनकर अवश्य ही स्वभाव की महिमा प्रगट होती है और वह बराबर निर्णय करके अवश्य समझ लेता है।

जिज्ञासु जीवों को इस उपादान-निमित्त के स्वरूप के समझने में दुर्लक्ष्य नहीं करना चाहिए। इसमें महान् सिद्धान्त निहित हैं। इसे ठीक समझकर, इसका निर्णय करना चाहिए। उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता का निर्णय किए बिना कदापि सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता और बिना सम्यग्दर्शन के धर्म नहीं होता।

अब, अन्त में ग्रन्थकार कहते हैं कि जो आत्मा के गुण को पहिचानता है, वही इस संवाद के रहस्य को जानता है।

जो जानै गुण ब्रह्म के, सो जानै यह भेद।

साख जिनागम सों मिलै, तो मत कीज्यो खेद ॥ 45 ॥

अर्थ - जो जीव, आत्मा के गुण को अर्थात् स्वभाव को जानते हैं, वे इस उपादान-निमित्त के संवाद के रहस्य को जानते हैं। उपादान-निमित्त के इस स्वरूप की साक्षी श्री जिनागम से मिलती है; इसलिए इस सम्बन्ध में खेद नहीं करना चाहिए / शङ्का नहीं करना चाहिए।

दोहा 45 पर प्रवचन

उपादान और निमित्त दोनों पदार्थ त्रिकाल हैं, दोनों में से एक भी अभावरूप नहीं है। सिद्धदशा में भी आकाश इत्यादि निमित्त हैं। अरे! ज्ञान की अपेक्षा से समस्त लोकालोक निमित्त हैं। जगत में

स्व और पर पदार्थ हैं और ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक ज्ञायक है; इसलिए यदि ज्ञान, स्व-पर को भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र न जाने तो वह मिथ्याज्ञान है; इसलिए स्व और पर को जैसा का तैसा जानना चाहिए। उपादान को स्व के रूप में और निमित्त को पर के रूप में जानना ठीक है। दोनों को जो जैसे हैं, उन्हें उनके गुणों के द्वारा जानकर अपने उपादानस्वभाव को पहचानकर निरन्तर अपने शुद्ध उपादान का आलम्बन (आश्रय) करना चाहिए।

(1) उपादान-निमित्त को जान लेना चाहिए, किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि निमित्त के कारण उपादान में कोई कार्य होता है अथवा निमित्त, उपादान का कोई कार्य कर सकता है।

(2) मात्र उपादान से ही कार्य होता है, निमित्त कुछ नहीं करता; इसलिए निमित्त कुछ है ही नहीं - यह भी नहीं मानना चाहिए।

(3) निमित्त को जानना तो चाहिए, किन्तु वह उपादान से भिन्न पदार्थ है; इसलिए वह उपादान में किसी भी प्रकार की सहायता अथवा असर नहीं कर सकता, इस प्रकार समझना ही सम्यग्ज्ञान है। यदि निमित्त की उपस्थिति के कारण कार्य का होना माने तो वह मिथ्याज्ञान है।

इस प्रकार इस संवाद के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि उपादान, वस्तु की निजशक्ति है और परसंयोग, निमित्त है। निमित्त, जीव का अर्थात् उपादान का कुछ भी कार्य नहीं करता, किन्तु उपादान स्वयं ही अपना कार्य करता है। सारे संवाद में कहीं भी यह बात स्वीकार नहीं की गयी है कि 'निमित्त से कार्य होता है।' विपरीतदशा

में विकार भी जीव स्वयं ही करता है; निमित्त, विकार नहीं कराता। इस प्रकार इस संवाद में मुख्य प्रयोजन की बात ली गयी है।

सम्यग्दर्शन से सिद्धदशा तक जीव की ही शक्ति से कार्य होता है – यह सिद्ध किया गया है किन्तु निमित्त की बलवत्ता कहीं भी नहीं मानी गयी है। इससे यदि कोई जीव अपनी नासमझी के कारण यह मान बैठे कि यह तो एकान्त हो गया। सर्वत्र उपादान से ही कार्य हो और निमित्त से कहीं भी न हो, इसमें अनेकान्तपन कहाँ है? तो ग्रन्थकार कहते हैं कि इसमें स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव सिद्ध किया है और निमित्त का पक्ष नहीं किया है। निमित्त का यथार्थ ज्ञान है परन्तु उसका पक्ष नहीं है, उस ओर लक्ष्य का खिंचाव नहीं है; इसलिए खेद नहीं करना चाहिए, अपितु उत्साहपूर्वक समझकर इस बात को स्वीकार करना चाहिए क्योंकि इस बात की साख श्री जिनागम से मिलती है।

श्री जिनागम, वस्तु को सदा स्वतन्त्र बतलाता है। वस्तुस्वरूप ही स्वतन्त्र है। जिनेन्द्रदेव का प्रत्येक वचन पुरुषार्थ ही जागृति की वृद्धि के लिए ही है। यदि जिनेन्द्रदेव के एक भी वचन में से पुरुषार्थ को गौण करने का आशय निकाला जाए तो मानना चाहिए कि वह जीव, जिनेन्द्रदेव के उपदेश को समझा ही नहीं है।

निमित्तों का और कर्मों का ज्ञान, उनमें अटक जाने के लिए नहीं कराया है किन्तु निमित्तरूप परवस्तुएँ हैं और जीव के परिणाम भी उसके पक्ष से अनेक प्रकार विकारी होते हैं। यह जानकर अपने निज परिणाम की सँभाल करने के लिए निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है। वह ज्ञान सत्य पुरुषार्थ की वृद्धि के लिए ही है

किन्तु जो जीव यह कहता है कि 'तीव्र कर्मोदय आकर मुझे हैरान करेगा तो पुरुषार्थ नहीं चल सकेगा' – उस जीव को स्वयं पुरुषार्थ नहीं करना है; इसीलिए वह पुरुषार्थ हीनता की बातें करता है।

अरे भाई! पहले जब तुझे कर्मों की खबर नहीं थी, तब तू ऐसा तर्क नहीं करता था और अब कर्मों का ज्ञान होने पर तू पुरुषार्थ की शङ्का करता है तो क्या अब निमित्त का यथार्थ ज्ञान होने से तुझे हानि होगी? इसलिए हे जीव! निमित्त-कर्मों की ओर का लक्ष्य छोड़कर तू अपने ज्ञान को उपादान के लक्ष्य में लगाकर सच्चा पुरुषार्थ कर! तू जितना पुरुषार्थ करेगा, उतना काम आयेगा। तेरे पुरुषार्थ को रोकने के लिए विश्व में कोई समर्थ नहीं है। जगत में सब कुछ स्वतन्त्र है। रजकण से लेकर सिद्ध तक सभी जड़-चेतन पदार्थ स्वतन्त्र हैं। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ किञ्चित्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है; तब फिर कोई भी निमित्तरूप पदार्थ हों, वे उपादान का क्या कर सकते हैं? उपादान स्वयं जिस प्रकार परिणमन करता है, उस प्रकार परपदार्थ में निमित्तारोप होता है।

निमित्त तो आरोपमात्र कारण है, उसकी उपादान में तीनों काल नास्ति है और अस्ति – नास्तिरूप ऐसा अनेकान्त, वस्तु का स्वरूप है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में कुछ कर सकता है; इस प्रकार की मान्यता से पदार्थों की स्वतन्त्रता नहीं रहती और एकान्त आ जाता है।

इसलिए उपादान-निमित्त के संवाद के द्वारा जो वस्तुस्वरूप समझाया गया है, उसे जानकर, हे भव्य जीव! तुम खेद का परित्याग करो। परद्रव्य की सहायता आवश्यक है, इस मान्यता का

परित्याग करो। अपनी आत्मा को पराधीन मानना ही सबसे बड़ा खेद है। अब आत्मा के स्वाधीन स्वरूप को जानकर उस खेद का परित्याग करो, क्योंकि श्री जिनागम का प्रत्येक वचन वस्तुस्वरूप को स्वतन्त्र घोषित करता है और जीव को सत्य पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरित करता है।

यह बात विशेष ध्यान में रखना चाहिए कि निमित्त वस्तु है तो अवश्य। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को न पहचाने और कहे कि निमित्त का क्या काम है? उपादान स्वतन्त्र है, इस प्रकार उपादान को जाने बिना यदि स्वच्छन्दी होकर प्रवृत्ति करे तो इससे उसका अज्ञान ही दृढ़ होगा - ऐसे जीव के धर्म तो हो ही नहीं सकता, उलटा शुभराग को छोड़कर अशुभराग में प्रवृत्ति करेगा। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है कि -

उपादान का नाम ले, यदि यह तजे निमित्त।

पाये नहिं परमार्थ को, रहे भ्रान्ति में स्थित।

ध्यान रहे कि यहाँ उपादान का मात्र नाम लेकर जो निमित्त का निषेध करता है - ऐसे जीव की बात है किन्तु जो उपादान के भाव को समझकर, निमित्त का लक्ष्य छोड़ देते हैं, वे सिद्धस्वरूप को प्राप्त होते हैं। इस गाथा को उलटकर कहा जाए तो -

उपादान का भाव ले, यदि यह तजे निमित्त।

पाये वह सिद्धत्व को, रहे स्वरूप में स्थित॥

अज्ञानी जीव, सत् निमित्त को नहीं जानता और उपादान को भी नहीं जानता, वह जीव तो अज्ञानी ही रहता है किन्तु जो जीव अपने उपादान स्वभाव के स्वतन्त्र भावों को पहचानकर, उस

स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा निमित्त के लक्ष्य को छोड़ देते हैं, वे जीव अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं; उनकी भ्रान्ति का और राग का नाश हो जाता है और वे केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।

जो जीव, उपादान-निमित्त के स्वरूप को नहीं जानता और मात्र उपादान की बातें करता है तथा सच्चे निमित्त को जानता ही नहीं, वह पापी है। यहाँ पर यह आशय नहीं है कि निमित्त से कोई कार्य होता है किन्तु यहाँ अपने भाव को समझने की बात है। जब जीव के सत्निमित्त के समागम का भाव, अन्तर से नहीं बैठा और स्त्री-पैसा इत्यादि के समागम का भाव जम गया, तब उसे धर्म के भाव का अनादर और संसार की ओर के विपरीतभाव का आदर हो जाता है। अपने में वर्तमान तीव्र राग है, तथापि वह उस राग का विवेक नहीं करता, अर्थात् शुभाशुभ के बीच व्यवहार से भी भेद नहीं करता; वह जीव विपरीतभाव का ही सेवन करता रहता है।

वह विपरीतभाव किसका? क्या तू वीतराग हो गया है? यदि तुझे विकल्प और निमित्त का लक्ष्य ही न होता तो तुझे शुभ निमित्त के भी लक्ष्य का प्रयोजन न होता, किन्तु जब विकल्प और निमित्त का लक्ष्य है, तब तो उसका अवश्य विवेक करना चाहिए। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि निमित्त से कोई हानि-लाभ होता है परन्तु अपने भाव का उत्तरदायित्व स्वयं स्वीकार करना होगा। जो अपनी वर्तमान पर्याय के भाव को और उसके योग्य निमित्तों को नहीं पहचानता, वह त्रैकालिकस्वभाव को कैसे जानेगा?

जीव या तो निमित्त से कार्य होता है – यह मानकर पुरुषार्थहीन होता है अथवा निमित्त का और स्व-पर्याय का विवेक भूलकर स्वच्छन्दी हो जाता है – यह दोनों विपरीतभाव हैं। वे विपरीतभाव ही जीव को उपादान की स्वतन्त्रता नहीं समझने देते। यदि जीव विपरीतभाव को दूर करके सत् को समझे तो उसे मोक्षमार्ग होता है और जब अपने भाव से सत् का समझे तब सत्निमित्त होते ही हैं क्योंकि जिसे सत्स्वभाव के प्रति बहुमान है, उसे सत्निमित्तों की ओर का लक्ष्य और बहुमान हो ही जाता है। जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अनादर है, उसे मानों अपने ही सत्स्वरूप के प्रति अनादर है और सत्स्वरूप का अनादर ही निगोदभाव है, उस भाव का फल निगोददशा है।

इसलिए जिज्ञासुओं को सभी पहलुओं से उपादान-निमित्त को जो जैसे हैं, उन्हें उसी प्रकार ठीक जानकर निश्चय करना चाहिए। यह निश्चय करने पर पराधीनता की मान्यता का खेद दूर हो जाता है और स्वाधीनता का सच्चा सुख प्रगट होता है।

ग्रन्थ कर्ता का नाम और स्थान -

नगर आगरा अग्र है, जैनी जन को वास।

तिह थानक रचना करी, भैया स्वमति प्रकाश ॥ 46 ॥

अर्थ - आगरा शहर (तीर्थधाम मङ्गलायतन के निकट) अग्रगण्य नगरों में से है, जिसमें जैन लोगों का (अच्छी संख्या में) निवास है। वहाँ पर भैया भगवतीदास ने अपनी बुद्धि के प्रकाशानुसार यह रचना की है अर्थात् अपने ज्ञान के प्रकाश के लिए यह रचना की है।

दोहा 46 पर प्रवचन

यह जो उपादान-निमित्त के बीच के बँटवारे के कथन का अधिकार कहा गया है, वह सर्वज्ञदेव की परम्परा से कथित तत्त्व का सार है और उसमें अपनी बुद्धि के अनुसार जो मैं समझ सका हूँ, वही मैंने इस संवाद में प्रगट किया है।

रचना काल -

संवत् विक्रम भूप का, सत्तरहसैं पंचास।

फाल्गुन पहले पक्ष में, दशों दिशा परकाश ॥ 47 ॥

अर्थ - विक्रम संवत् 1750 के फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष में इस संवाद की रचना की गई है।

दोहा 47 पर प्रवचन

जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रकाश दशों दिशाओं में फैल जाता है, उसी प्रकार यह उपादान-निमित्त सम्बन्धी तत्त्वचर्चा दशों दिशाओं में तत्त्व का प्रकाश करेगी; यत्र-तत्र इसी की चर्चा होगी अर्थात् यह तत्त्वज्ञान सर्वत्र प्रकाशित होगा – इस प्रकार अन्तिम मङ्गल के साथ यह अधिकार पूर्ण होता है। ●●



उपादान की योग्यता

समय-समय का उपादान स्वाधीन-स्वयंसिद्ध है। अहो! ऐसी स्वतन्त्रता की बात लोगों को अनन्त काल से नहीं रुची है और वे पराश्रय में धर्म मानकर भटक रहे हैं। जिसे उपादान की स्वाधीनता का निर्णय नहीं है, उस जीव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

उपदेश में तो अनेक प्रकार से कथन आता है। वहाँ अज्ञानी जीव, निमित्त और व्यवहार के कथन को ही पकड़ लेता है परन्तु उस कथन का परमार्थ आशय क्या है? – उसे वह नहीं समझता। क्या किया जाए! स्वयं अन्तर में पात्र होकर वस्तुस्थिति समझे तो समझ में आये; उसकी पात्रता के बिना ज्ञानी क्या करें? उसकी अपनी पात्रता के बिना साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान भी उसे नहीं समझा सकते। उपादान की योग्यता के बिना दूसरा क्या करेगा? उपादान में योग्यता हो तो दूसरे में निमित्तरूप उपचार आता है।

अहो! जहाँ देखो वहाँ, उपादान की विधि का एक ही प्रकार है। अमुक समय अमुक प्रकार की पर्याय क्यों हुई है? – तो कहते हैं कि ऐसी ही उस उपादान की योग्यता है। सम्यग्दर्शन क्यों हुआ? – तो कहते हैं कि पर्याय की वैसी योग्यता से। इस प्रकार उपादान

निरवचन है; अर्थात्, उसमें एक ही प्रकार है, एक ही उत्तर है। 'ऐसा क्यों?' तो कहते हैं 'ऐसी ही उपादान की योग्यता।'

यह मुख्य ध्यान रखना चाहिए कि 'उपादान की योग्यता' – ऐसा जो बारम्बार कहा जाता है, वह त्रिकाली शक्तिरूप नहीं है परन्तु एक समय की पर्यायरूप है; प्रति समय की पर्याय में अपनी स्वतन्त्र शक्ति है, उसे उपादान की योग्यता कही जाती है। समय-समय की पर्याय के स्वतन्त्र उपादान की लोगों को खबर नहीं है; इसलिए निमित्त आये तो पर्याय हो – ऐसा वे भ्रम से मानते हैं। इस मान्यता में तो अकेली संयोगी / पराधीनदृष्टि है। अहा! एक-एक समय की पर्याय का स्वतन्त्र उपादान! – उसका निर्णय करने में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। वस्तुस्वरूप ही यह है परन्तु इस समय तो लोगों को यह बात कठिन हो रही है।

उपादान की योग्यता कहो, पर्याय की शक्ति कहो, अवस्था की योग्यता कहो, स्वकाल कहो, काललब्धि कहो, अपना उत्पाद कहो, अपना अंश कहो, क्रमबद्धपर्याय कहो, नियत कहो या उस प्रकार का पुरुषार्थ कहो – ये सब एक ही हैं। इनमें से यदि एक भी बोल का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें सब आ जाता है। निमित्त के कारण किसी वस्तु में कुछ परिवर्तन या विलक्षणता हो – यह बात तो कहीं रहती ही नहीं।

उपदेश में तो अनेक प्रकार से निमित्त से कथन आता है परन्तु वहाँ सर्वत्र उपादान की स्वतन्त्रता को दृष्टि में रखकर उस कथन का आशय समझना चाहिए। मूल दृष्टि ही जहाँ विपरीत ही, वहाँ शास्त्रों के अर्थ भी विपरीत ही भासित होते हैं। कुछ लोग बड़े

त्यागी या विद्वान माने जाते हों, तथापि उन्हें भी उपादान-निमित्त सम्बन्धी विपरीतदृष्टि होती है; उनके साथ इस बात का मेल नहीं बैठ सकता। यथार्थ तत्त्व की दृष्टि बिना लोगों ने यों ही त्याग की गाड़ियाँ हाँक दी हैं। अरे, तत्त्वनिर्णय की दरकार भी नहीं करते, परन्तु तत्त्वनिर्णय के बिना सच्चा त्याग नहीं होता; इसलिए वह त्याग भी भाररूप है।

उपादान की विधि निरवचन कही गयी है, उसका अर्थ यह है कि उसमें एक ही प्रकार है; जितने प्रश्न पूछो, उन सबका एक ही उत्तर है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है, वहाँ-वहाँ उपादान की योग्यता से ही होता है; निमित्त तो मात्र अपनी योग्यता से उपस्थित रहते हैं।

— क्या ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण ज्ञान अटका है ?
— नहीं; अपनी योग्यता के कारण ही ज्ञान अटका है।

— क्या गुरु के कारण ज्ञान हुआ है ? — नहीं; अपनी योग्यता से ही ज्ञान हुआ है।

— क्या कुम्हार ने घड़ा बनाया है ? — नहीं; मिट्टी की योग्यता से ही घड़ा बना है।

— क्या अग्नि से पानी गर्म हुआ है ? — नहीं; पानी अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है।

— क्या आटे में से स्त्री ने रोटी बनायी है ? — नहीं; आटे की योग्यता से ही रोटी बनी है।

— क्या कर्म के उदय के कारण जीव को विकार हुआ है ?

— नहीं; जीव की पर्याय में वैसी योग्यता के कारण ही विकार हुआ है।

— इस प्रकार सर्वत्र एक ही उत्तर है कि उपादान की वैसी योग्यता से ही कार्य होता है। निमित्त भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के भले हों, परन्तु उन निमित्तों ने उपादान में कुछ भी नहीं किया है और निमित्त तथा उपादान एकत्रित होकर कोई एक तीसरी अवस्था होती है — ऐसा भी नहीं है। उपादान की अवस्था पृथक् और निमित्त की अवस्था पृथक् है। निमित्त के कारण उपादान में कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि उपादान में निमित्त का अभाव है। समय-समय का उपादान स्वाधीन-स्वयंसिद्ध है। अहो! ऐसी स्वतन्त्रता की बात लोगों को अनन्त काल से नहीं रुची है और वे पराधीनता मानकर भटक रहे हैं। जिसे उपादान की स्वाधीनता का निर्णय नहीं है, उसमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिस प्रकार उपादान में निमित्त का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की अभेददृष्टि में सारा व्यवहार अभूतार्थ है। शुद्धदृष्टि का विषय, एकाकार शुद्ध आत्मा है; उसमें भेद या राग नहीं है।

जिस प्रकार उपादान में 'पर्याय की योग्यता' — ऐसा एक ही प्रकार है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में 'आत्मा के अभेदस्वभाव का आश्रय' — ऐसा एक ही प्रकार है। देव-गुरु-शास्त्रादि परनिमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है — यह बात तो दूर रही, परन्तु अपने आत्मा में गुण-गुणी के भेद करके आत्मा को लक्ष्य में लेने से भी

सम्यग्दर्शन नहीं होता; भेद के आश्रय से अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। यदि भेद के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। 'मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं चारित्र हूँ अथवा मैं अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड आत्मा हूँ' - इस प्रकार शुभविकल्प करके उस विकल्परूप व्यवहार का ही जो अनुभवन करता है, परन्तु विकल्प तोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। सम्यक्त्वी को वैसा विकल्प आता है परन्तु उसकी दृष्टि अपने भूतार्थस्वभाव पर है; विकल्प और स्वभाव के बीच उसे भेद हो गया है, भूतार्थस्वभाव की निर्विकल्प दृष्टि (निर्विकल्प प्रतीति) उसके सदैव प्रवर्तमान रहती है। देखो; यह धर्मात्मा की अन्तर्दृष्टि! ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना किसी भी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता है। ●● (आत्मधर्म, हिन्दी, वर्ष-10, अङ्क-1, पृष्ठ-10)



स्वाधीनता का मार्ग

प्रत्येक वस्तु का कार्य अन्तरङ्ग कारण से ही होता है, बाह्य कारण से कोई भी कार्य नहीं होता है। यदि बाह्य कारण से ही कार्य हो जाता हो तो चावल (धान) में से गेहूँ और गेहूँ के बीज में से चावल पैदा होने का प्रसङ्ग आ जाएगा। ऐसा होने पर तो वस्तु की व्यवस्था ही कायम नहीं रह सकती। इसीलिए कहा है कि 'कहीं पर भी अन्तरङ्ग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।'

सार यह है कि सर्व वस्तुओं के कार्य की उत्पत्ति अन्तरङ्ग कारण अर्थात् वस्तु की अपनी शक्ति से ही होती है - यह नियम है। इसमें अनेक प्रश्नों का समाधान समाहित है।

अन्तरङ्ग कारण - द्रव्य की शक्ति, उपादानकारण।

बहिरङ्ग कारण - परद्रव्य की वर्तमानता, निमित्तकारण।

कोई भी कार्य, बाह्य पदार्थों के कारण से उत्पन्न नहीं होता, यह निश्चित सिद्धान्त है। यदि बाह्य कारण से कार्य की उत्पत्ति होती हो तो चावल से गेहूँ तथा गेहूँ से चावल उत्पन्न होने लगे - परन्तु ऐसा कहीं होता तो नहीं है; इसलिए स्पष्ट है कि किसी भी द्रव्य का कार्य किसी दूसरे द्रव्य के कारण से

उत्पन्न नहीं होता, बल्कि द्रव्य की अपनी ही शक्ति से होता है।

तीन काल और तीन लोक में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है कि जिस द्रव्य का कार्य अन्य द्रव्य से उत्पन्न होता हो। यदि अन्य द्रव्य से भी कार्य की उत्पत्ति होने लगे तो जीव में से जड़ तथा जड़ में से जीव की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जाएगा, परन्तु कार्य और कारण एक ही द्रव्य में होते हैं - इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्रव्य का कार्य स्वतन्त्ररूप से अपने द्रव्य के कारण से ही होता है; इसीलिए उपर्युक्त सिद्धान्त में कार्योत्पत्ति के प्रत्येक उपादान-निमित्तकारण का स्पष्टीकरण आ जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से वस्तु का स्वरूप होने से आत्मद्रव्य का कार्य / अवस्था तो आत्मा के ही अन्तरङ्ग कारण से उत्पन्न होता है और आत्मद्रव्य में तो वीतरागभाव ही प्रगट करने की शक्ति है, वीतरागता-शुद्धतारूपी कार्य उत्पन्न हो - ऐसी ही आत्मद्रव्य की अन्तरङ्ग शक्ति है।

प्रश्न : यदि आत्मद्रव्य की अन्तरङ्गशक्ति वीतरागता और शुद्धता ही प्रगट करने की है तो फिर पर्यायरूपी कार्य में अशुद्धता क्यों होती है ?

उत्तर : पर्याय में जो अशुद्धता है, वह पर्याय की वर्तमान योग्यता है। ज्ञानघनस्वभावी, अरूपी आत्मा, जो अन्तरङ्ग कारण है, उसमें से तो चाहे कैसा भी बाह्य निमित्त हो, चाहे कैसा भी संयोग हो तो भी ज्ञान और वीतरागता का ही प्रादुर्भाव होता है, इतना होने पर भी पर्याय में जो विकार या अशुद्धता है, वह पर्याय के अन्तरङ्ग कारण से है। विकार का अन्तरङ्ग कारण

एक समयमात्र पर्याय है; इसलिए विकाररूपी कार्य भी एक समयमात्र अवस्थिति का है। पहले समय का विकार दूसरे समय में निवृत्त हो जाता है। रागादि विकाररूप अशुद्ध अवस्था, पर्याय के अन्तरङ्ग कारण से है। रागादिक का अन्तरङ्ग कारण, द्रव्य नहीं बल्कि अवस्था / पर्याय है। द्रव्य के मूल स्वभाव में रागादि नहीं; इसलिए आत्मद्रव्य रागादि का कारण नहीं है।

जिस प्रकार चेतनद्रव्य की अवस्था, चेतन के अन्तरङ्ग कारण से ही होती है; उसी प्रकार जड़द्रव्य की अवस्था, जड़द्रव्य के अन्तरङ्ग कारण से ही होती है। जो शरीर के परमाणु एकत्रित हुए हैं, वे आत्मा के कारण से नहीं आये हैं परन्तु जिन-जिन परमाणुओं की अन्तरङ्ग शक्ति थी, वे ही परमाणु एकत्रित हुए हैं; अन्य सर्व परमाणु मल-मूत्रादि के द्वारा पृथक् हो गये हैं। परमाणुओं में क्रोधकर्मरूप जो अवस्था होती है, वह परमाणु की उस समय की योग्यता है, जीव ने वह अवस्था उत्पन्न नहीं की है। जीव की क्रोधादि भावरूप जो अवस्था होती है, उसमें जीव की उस समय की अवस्था की योग्यता ही कारण है।

जीव की अवस्था में विकारभाव और पुद्गल की अवस्था में कर्मरूप परिणमन - ये दोनों अपने अपने अन्तरङ्ग स्वतन्त्र कारणों से होते हैं। दोनों परस्पर एक-दूसरे के अन्तरङ्ग कारण नहीं हैं।

प्रति समय अवस्था / पर्याय परिवर्तन, वस्तु का स्वभाव है। वस्तु की अवस्था, वस्तु के कारण से ही उत्पन्न होती है। बाह्य साधन के कारण से किसी द्रव्य की अवस्था उत्पन्न नहीं

होती। इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था का स्वयं बिगाड़ या सुधार कर सकता है। चैतन्य की पर्याय चैतन्यरूप परिणमन होती है और जड़ की पर्याय जड़रूप परिणमन होती है। द्रव्य की अवस्था का कर्ता, कोई अन्य नहीं है।

परद्रव्यों को आत्मा करता है - ऐसी सामान्य मनुष्यों की मान्यता सत्य नहीं है - इसी बात को यहाँ बताते हैं -

**जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज, णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण, तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥**

अर्थात् : यदि आत्मा परद्रव्यों का कर्ता होता तो नियमपूर्वक वह उनमें तन्मय होता अर्थात् परद्रव्यमय हो जाता; परन्तु वह तन्मय नहीं होता; इसलिए उनका कर्ता भी नहीं है।

टीका : जो निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे तो वह आत्मा नियम से परद्रव्य में तन्मय (पररूप) हो जाए, क्योंकि परिणाम तथा परिणामीपना अन्य किसी प्रकार घटित ही नहीं हो सकता, परन्तु वह तन्मय नहीं होता, क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाए तो द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आ जाएगी। अतः आत्मा, व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है।

भावार्थ : एक द्रव्य का कर्ता, अन्य द्रव्य हो जाए तो दोनों द्रव्य एक हो जाएँ, क्योंकि कर्ता-कर्मपना तथा परिणाम-परिणामीपना एक ही द्रव्य में हो सकता है। इस प्रकार यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाए तो उस द्रव्य का नाश हो

जाए और महान् दोष का प्रसङ्ग आ जाए; इसलिए एक द्रव्य को अन्य द्रव्य का कर्ता कहना उचित नहीं।



आत्मा, परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। यदि आत्मा परद्रव्य का कुछ कर सके तो दोनों द्रव्य नियम से एक हो जाए, परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य सदा काल में एक-दूसरे से भिन्न हैं।

यदि आत्मा परद्रव्य का कुछ कर सके तो आत्मा और परद्रव्य एक हो जाए, क्योंकि जिस समय आत्मा, परद्रव्य का कुछ कर सकेगा, उसी समय दूसरे द्रव्य की स्वतन्त्रदशा रहेगी नहीं और इस प्रकार उसकी स्वतन्त्रता नष्ट होने पर द्रव्य का लोप हुआ, क्योंकि बिना अपनी स्वतन्त्र अवस्था कोई पदार्थ होता ही नहीं। इस प्रकार यदि जीव, परद्रव्य की अवस्था का कर्ता हो जाए तो परद्रव्य के साथ एकमेक हो जाए और द्रव्य के नाश का प्रसङ्ग आ जाए, परन्तु ऐसा कभी होता तो नहीं है।

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हैं। आत्मा की अवस्था, आत्मा से ही होती है और जड़ की अवस्था, जड़ से होती है। इस तरह विश्वास करना ही प्रथम धर्म है।

आत्मा किसी परवस्तु में प्रविष्ट नहीं हो सकता। शरीर में भी आत्मा प्रविष्ट नहीं हुआ है। शरीर, जड़ है और आत्मा, चेतन है। शरीर और आत्मा - दोनों त्रिकाल भिन्न पदार्थ हैं। शरीर की अवस्था रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसहित जड़रूप होती

है और आत्मा की अवस्था ज्ञानरूप होती है। इस तरह दोनों द्रव्य तथा उन दोनों की अवस्थाएँ बिल्कुल पृथक्-पृथक् रहती हैं।

प्रश्न - आत्मा पर का कर्ता है - ऐसा मान लिया जाए तो क्या हानि है ?

उत्तर - एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मान लिया जाएगा तो द्रव्य के नाश का प्रसङ्ग आ जाएगा अर्थात् महान् दोष आ जाएगा। इस जगत् में अनन्त पदार्थ हैं। जिस प्रकार आत्मा एक वस्तु है, उसी प्रकार दूसरा द्रव्य भी एक वस्तु है। जो वस्तु होती है, वह प्रतिक्षण स्व-योग्य क्रिया को करनेवाली होती है। अब, यदि यह माना जाए कि आत्मा ने अमुक द्रव्य का अमुक समय में कुछ किया तो फिर उस समय उस दूसरी वस्तु ने क्या किया ? क्योंकि परद्रव्य भी तो सामान्यरूप है, उसकी विशेषरूप क्रिया भी प्रतिक्षण होनी ही चाहिए। अब, यदि उस द्रव्य का आत्मा कुछ करता है तो उस द्रव्य की उस समय स्वयं क्या अवस्था हुई ? बिना अवस्था अर्थात् पर्याय या क्रियाकारित्व के तो कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता है; इसलिए स्पष्ट है कि उस समय उस दूसरे द्रव्य ने कुछ किया ही नहीं। जबकि प्रत्येक द्रव्य प्रति समय अपने स्वरूप में अवस्थित रहकर अपनी पर्याय/अवस्था को स्वयं ही परिवर्तित करता रहता है, उसकी क्रियाकारिता में दूसरे द्रव्य का किञ्चित्मात्र भी कार्य अर्थात् हस्तक्षेप नहीं है।

यदि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य की अवस्था को करने लगे तो दूसरे द्रव्य की विशेष अवस्था रहती नहीं है और विशेष

अवस्था के बिना द्रव्य की सत्ता का ही अभाव हो जाता है, इस तरह महान दोष का प्रसङ्ग आता है; इसलिए एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है - ऐसा मानना उस द्रव्य की त्रिकाली हिंसा है। इससे बढ़कर अन्य दूसरा बड़ा पाप दुनिया में नहीं है।

मैं परद्रव्य का कुछ कर सकता हूँ - यही मानना महान् हिंसा है। यही महान पाप है। बाह्यरूप में पर प्राणी मरता है या दुःखी होता है, इसी में हिंसा होती है परन्तु मैं उस प्राणी को दुःखी या सुखी कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता ही अपने ज्ञानस्वरूप की हिंसा है, उसमें मिथ्यात्वभाव का अनन्त पाप है और 'पर का कुछ कर सकता हूँ' - ऐसी विपरीत मान्यता को छोड़कर 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, परद्रव्य में मेरा किञ्चित्मात्र कार्य नहीं, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, सभी द्रव्य अपने-अपने कर्ता हैं' - ऐसा मानना ही अहिंसा है और यही प्रथम धर्म है।

प्रश्न - शरीर, आत्मा का चलाया हुआ चलता है और मनुष्य बड़े-बड़े पहाड़ों को तोड़ डालते हैं, यह सब हम आँखों से देखते हैं न ? फिर भी आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता - ऐसा क्यों कर रहे हैं ? क्या हमने जो कुछ नजरों से देखा है, वह सब गलत है ?

उत्तर - आत्मा क्या है और शरीर क्या है ? इसके पृथक्त्व के ज्ञान के बिना, आत्मा ने क्या किया ? - इस बात का अज्ञानी को क्या पता चल सकता है ? आत्मा को तो वह देखता नहीं,

मात्र बाह्य जड़ की स्थूलक्रिया को देखता है। 'आत्मा जड़ की क्रिया करता है' - ऐसा दृष्टि से भी तो दिखाई नहीं देता, परन्तु अज्ञानी व्यर्थ ही यह मान लेता है कि आत्मा कर रहा है और कहता है कि मैंने आँखों से देखा है परन्तु यह नहीं विचारता कि नजर से क्या देखा? नजर से तो यही देखा जाता है कि जड़वस्तु की क्रिया अपने आप ही हो रही है परन्तु 'बछेरे के अण्डे' की तरह 'आत्मा ने किया' - ऐसा मानता है। बछेरे के अण्डे का दृष्टान्त निम्न प्रकार से है -

एक बार एक दरबार एक सुन्दर घोड़े के बछेरे को खरीदने के लिए बाहर निकला। दरबार पहले कभी महल से बाहर नहीं निकला था; इसलिए उसे दुनियाँ का कोई अनुभव नहीं था। वह बछेरा खरीदने एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहा था, रास्ते में उसे कुछ ठग मिले। बातचीत से उन ठगों ने जान लिया कि यह दरबार बिल्कुल अनुभवहीन है और पहली बार बछेरा खरीदने बाहर निकला है। उन ठगों ने दरबार को ठगने का निश्चय किया और दो बड़े काशीफल लेकर एक पेड़ पर टाँग दिए। उसी पेड़ के पासवाली झाड़ी में खरगोश के दो बच्चे छिपे बैठे थे। उन ठगों ने दरबार से कहा कि हमारे पास बछेरों के दो सुन्दर अण्डे हैं, उनमें से दो सुन्दर बछेरे निकलेंगे। दरबार से सौदा तय करके 1000 रुपये उन्होंने ले लिए। फिर उन पेड़ पर छिपाकर रखे हुए दोनों काशीफलों को नीचे गिरा दिया। नीचे गिरते ही वे फट गए और एक जोर का धड़ाका हुआ। उस धड़ाके की आवाज सुनकर वे खरगोश के बच्चे झाड़ी

में से निकलकर भागे। तब वे ठग ताली बजाकर हँसे और बोले महाराज! महाराज!! अण्डे तो फूट गए। ये तुम्हारे दोनों बछेरे भागे जा रहे हैं। पकड़ो, पकड़ो।

दरबार उन्हें सचमुच बछेरे जानकर पकड़ने दौड़ा परन्तु वे खरगोश किसी झाड़ी में छिप गए और दरबार के हाथ नहीं आये। दरबार मन मारकर घर आ गया। घर आने पर अन्तःपुर के लोगों ने पूछा कि महाराज! बछेरों का क्या हुआ? तब दरबार ने अण्डे खरीदने की समस्त वार्ता कह सुनाई और कहने लगा कि इतने सुन्दर बछेरे निकले कि निकलते ही दौड़ पड़े। अन्तःपुर के लोगों ने कहा - महाराज! आप मूर्ख हो गये हैं। अरे! कहीं बछेरों के भी अण्डे होते हैं? तब दरबार ने कहा - भाई! मैंने अपनी आँखों देखे हैं न? परन्तु कोई पूछे, अरे! जब बछेरे के अण्डे होते ही नहीं, तो तुमने देखे कहाँ से? इसी तरह अज्ञानी जीव कहता है कि 'आत्मा, परद्रव्य के कार्य को करता देखा जाता है न'? अरे भाई! जब आत्मा परद्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता, तो तूने देखा कहाँ से? दृष्टि से तो जड़ की क्रिया देखी जाती है। आत्मा ने यह क्रिया की, यह तो नजर नहीं आता।

देखो! हाथ में लकड़ी है, अब यह ऊँची हो गयी है; इसमें आत्मा ने क्या किया? आत्मा ने यह जाना तो सही कि लकड़ी पहले नीचे थी और अब ऊपर हो गयी है परन्तु लकड़ी को ऊँचा करने में आत्मा समर्थ नहीं है। अज्ञानी जीव भी यह जानता है कि लकड़ी ऊँची हुई, परन्तु 'इसे ऊँचा मैंने किया है' -

ऐसा मानकर वह जो कुछ दिख रहा है, उससे भी विपरीत मान लेता है।

प्रश्न - हाथ तो आत्मा ने हिलाया, तभी हिला न?

उत्तर - हाथ तो जड़ है, चमड़ा है; वह आत्मा नहीं है। आत्मा और हाथ दोनों भिन्न पदार्थ हैं। आत्मा, हाथ का कुछ कर नहीं सकता। 'आत्मा हाथ का कुछ कर सकता है' - ऐसा मानना तो चमड़े को 'स्व' रूप मान लेना है। पर-रूप को स्व-रूप मानना तो चोरी है, हिंसा है, महान् पाप है।

(1) एक आत्मा, दूसरे आत्मा का कुछ कर सकता है, अथवा,

(2) एक आत्मा, जड़ [पुद्गल] का कुछ कर सकता है, अथवा,

(3) एक पुद्गल, दूसरे पुद्गल का कुछ कर सकता है; अथवा,

(4) एक पुद्गल, आत्मा का कुछ कर सकता है

- ऐसा मानना महान् हिंसा है। इससे अधिक महान पाप जगत् में दूसरा नहीं है और इस हिंसा का फल, जन्म-मरण की जेल है।

जो जीव यह मानता है कि किसी भी परद्रव्य का आत्मा कुछ कर सकता है तो फिर उसे यह भी मानना पड़ेगा कि इस जगत् के अनन्त परद्रव्यों का भी आत्मा कुछ कर सकता है। इस प्रकार अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व की महा अन्धकाररूप

विपरीतमान्यता को माननेवाला हुआ और जिस प्रकार आत्मा, परद्रव्य का कुछ कर सकता है; उसी प्रकार परद्रव्य भी आत्मा का कुछ कर सकता है - ऐसी विपरीत मान्यता भी फलित हुई। इस प्रकार इस मान्यतावाले ने अपने को निर्बल तथा पराधीन माना तथा इस प्रकार दोनों तत्त्वों को ही पराधीन माना। वस्तुतः यही तत्त्व की हिंसा है।

एक तत्त्व, दूसरे तत्त्व का कुछ कर सकता है - यही मान्यता अपने स्वयं के स्वाधीनस्वरूप की हिंसा है और ऐसी एक क्षण की भी पराधीनतारूपी मान्यता में त्रिकाल का पाप समाया हुआ है। इसी प्रकार 'परद्रव्य का मैं कुछ नहीं कर सकता, परद्रव्य मेरा कुछ नहीं कर सकता, प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र, स्वाधीन, परिपूर्ण और सत् रूप है; कोई तत्त्व किसी का आधार नहीं है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता को मानना, त्रिकाली सत् का स्वीकार करना है, स्वतन्त्र सत् रूप का आदर है - यही धर्म है।'।

प्रश्न - आत्मा तो अनन्त शक्तिवाला है, वह पर का कुछ न कर सके, जैसा निर्बल तो नहीं है। यदि वह पर का कुछ कर नहीं सकता, तो आत्मा को अनन्त शक्तिवाला क्यों कहा है?

उत्तर - आत्मा अनन्त शक्तिवाला है, यह बात सत्य है परन्तु यह आत्मा की अनन्त शक्ति आत्मा में हैं; आत्मा की शक्ति पर में नहीं है। आत्मा, चेतन पदार्थ है और ज्ञान, दर्शन, आनन्द पुरुषार्थ इत्यादि अनन्त चैतन्यशक्ति उसमें है परन्तु उस शक्ति से आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता। पर का कुछ करने में आत्मा सर्वथा निःशक्त है, अर्थात् आत्मा की परद्रव्यरूप

से तो नास्ति है; इसलिए वह पर में कुछ नहीं कर सकता है। परद्रव्य स्वतन्त्र है, उसमें आत्मा की शक्ति कुछ नहीं कर सकती है। आत्मा की अनन्त शक्ति आत्मा में ही कार्यकारी है। स्वयं के लिए तो आत्मा की ऐसी अनन्त शक्ति है कि उसके बल से वह एक क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसी बल के विपरीत प्रयोग से क्षण में सातवें नरक में जा सकता है। इस प्रकार आत्मा की अनन्त शक्ति, आत्मा में ही कार्य कर सकती है; परद्रव्य में किञ्चित् भी कार्य नहीं कर सकती।

प्रत्येक तत्त्व/पदार्थ अपने-अपने परिणाम का धारक है अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपनी अवस्था को धारण करती है। वस्तु परिणामी है और अवस्था उसका परिणाम है। परिणामी या परिणाम अथवा वस्तु और वस्तु की अवस्था - ये दोनों भिन्न नहीं हो सकते, यही यथार्थ वस्तुस्वरूप हैं। ऐसा होने पर भी जो जीव 'परद्रव्य में परिणाम मैं कर सकता हूँ' - ऐसा मानता है, वह वस्तुस्वरूप का, विश्वधर्म का खून करता है। वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है; वस्तुस्वरूप अन्यथा नहीं हो सकता, मात्र अज्ञानी अपने भाव में विपरीत मानता है। यह विपरीत मान्यता ही संसार का कारण है।

परिणामी और परिणाम अभेद होता है। परिणामन एक द्रव्य में हो और परिणामन करनेवाला अन्य द्रव्य हो, यह कभी नहीं हो सकता। एक द्रव्य का परिणामन, दूसरे द्रव्य के परिणामन में कोई असर या मदद नहीं कर सकता। जीव को दानादिक के शुभभाव होते हैं तो उन भावों के कारण दूसरों का हित हो

जाता है और हिंसादिक अशुभभावों के कारण दूसरे का अहित हो जाता है - ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जीव के परिणाम का फल जीव में ही है, पर में नहीं। इसी तरह परद्रव्य की अवस्था उसमें ही है, मुझमें नहीं; इसलिए अपनी अवस्था मैं करूँ, पर की अवस्था परद्रव्य करे; मैं पर की न करूँ, पर मेरी न करे - ऐसी मान्यता प्रथम माने तो जीव की अनन्त शान्ति प्रगट हो और अनन्त राग-द्वेष टल जाए। यह मान्यता ही परम धर्म है। इस मान्यता करने में अनन्त परपदार्थों का अहंकार दूर करने का अनन्त पुरुषार्थ है।

मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूँ; ज्ञान के अतिरिक्त परद्रव्य का मैं कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार जब तक सम्यक् मान्यता नहीं होगी, तब तक आत्मा की सम्यग्ज्ञानरूपी कला विकसित नहीं होगी। सम्यग्ज्ञान कला ही धर्म है।

मैं परद्रव्य के कर्तृत्व से रहित, पर से भिन्न, ज्ञानस्वरूप, स्वतन्त्र द्रव्य हूँ। इस प्रकार जिसे अपनी स्वतन्त्रता का ज्ञान नहीं होता, वह परद्रव्यों को भी स्वतन्त्र नहीं मानता, उन्हें स्वतन्त्र न मानकर, मैं परद्रव्य का कर्ता हूँ और परद्रव्य भी मेरा कुछ कर सकते हैं; इस प्रकार वह समस्त द्रव्यों को पराधीन मानता है।

जो जीव अपनी स्वतन्त्रता का ज्ञान प्राप्त कर चुका है, वह अन्य द्रव्यों को भी स्वतन्त्र मानता है; इसीलिए वह अपने को पर का कर्ता नहीं मानता। इस प्रकार अनन्त परपदार्थों का अहंकार टल जाने से अपने स्वभाव की अनन्त दृढता प्राप्त हो जाती है - यही धर्म है और यही स्वाधीनता का मार्ग है। ●●

एक ही समाधान : योग्यतावाद

यद्यपि बाहर के संयोग-वियोग तो पूर्व के प्रारब्धानुसार प्राप्त होते हैं, तथापि अज्ञानी जीव उसमें अपना पुरुषार्थ मानता है और धर्म करने में अपना वर्तमान पुरुषार्थ होने पर भी, पुरुषार्थ नहीं करता।

अरे भाई! संयोग-वियोग तो पूर्व प्रारब्ध के अनुसार होता है, जबकि धर्म तो तेरे वर्तमान पुरुषार्थ से होता है; इसलिए अपनी बुद्धि को धर्म में जोड़! मनुष्यभव में अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पर भी मूढ़ जीव, वहाँ से वैराग्य पाकर सद्धर्म में बुद्धि नहीं लगाते। देखो, यहाँ सद्धर्म में बुद्धि लगाने को कहा है तो इसमें अपना पुरुषार्थ है न?

प्रश्न - परन्तु धर्म में सूझ नहीं पड़ती न?

उत्तर - क्या नहीं सूझता? 'नहीं सूझता' — यह निर्णय किसने किया? 'स्वभाव है, परन्तु वह सूझता नहीं है' — ऐसा कहा तो उसमें स्वभाव का ख्याल तो आता है परन्तु स्वयं अन्तर्दृष्टि करके, उसका विश्वास नहीं करता। अज्ञानी को चैतन्य में क्षणिक सङ्कल्प-विकल्प तो भासित होते हैं परन्तु उन सङ्कल्प-विकल्प के समय भी ध्रुवस्वभाव विद्यमान है, उस स्वभाव का स्वयं विश्वास नहीं करता, इसलिए सूझ नहीं पड़ती।

जैसे, धुएँ के गोले की आड़ में पूरा बर्तन नहीं दिखता; वैसे ही अज्ञानी को अकेले संयोग और विकार की आड़ में चिदानन्द भगवान भासित नहीं होता। वह तो क्षणिक पुण्य-पाप तथा संयोग को ही देखता है। अन्तर्दृष्टि करके आत्मस्वभाव को नहीं देखता; इसीलिए कहा है कि ऐसा मनुष्यभव पाकर भी मूढ़ जीव, सद्धर्म में बुद्धि को नहीं लगाते और पापारम्भ में ही लगे रहते हैं।

भाई! यह बात तो ऐसी है कि यदि सत्समागम पाकर अन्तरङ्ग में विचार करे तो सब समझ में आ सकता है। जीवों में समझने को शक्ति है, इसी कारण सन्त उन्हें समझाने के लिए उपदेश करते हैं।

धर्मी जीव विचार करता है कि सुख मेरे स्वभाव में है, मेरा सुख किसी संयोग में नहीं है। संसार की ओर झुकाववाले सभी भाव दुःख हैं और स्वभाव की ओर झुकाव करके, उसमें एकाग्र होना ही सुख है। इस प्रकार धर्मी जीव संसारभावना भाकर अपने वैराग्य की वृद्धि करता है।

आज यहाँ (सोनगढ़ में) समवसरण की स्थापना का दिवस है। आज यहाँ समवसरण की स्थापना को दश वर्ष पूर्ण होकर ग्यारहवाँ वर्ष लगा है।

समवसरण क्या चीज है और उसका स्वीकार करनेवाले को कितना स्वीकार करना चाहिए? उसे स्वीकार करना चाहिए कि जगत में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा अनादि से ही अपने स्वभाव का भान भूलकर, चार गतियों में परिभ्रमण करता था, फिर आत्मा का यथार्थ भान किया और पूर्ण वीतरागता नहीं हुई तो वहाँ

राग रहा, उस राग में किसी जीव को ऐसा शुभभाव होता है कि तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जाए। ऐसे परिणाम अमुक विशिष्ट जीव को ही आते हैं और उसे ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है।

कोई जीव यह चाहे कि मुझे तीर्थङ्कर होना है, इसलिए मैं शुभराग करके अथवा सोलहकारणभावना भाकर तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधूंगा - तो ऐसे तीर्थङ्कर नहीं हुआ जाता। सम्यग्दृष्टि की भूमिका में ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य राग आता है परन्तु उस धर्मी जीव को उस राग अथवा तीर्थङ्कर नामकर्म की भावना नहीं होती और सम्यग्दृष्टि जीवों में भी तीर्थङ्कर नामकर्म सबको नहीं बँधता। उसका कारण यह है कि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों का राग एक समान नहीं होता।

राग, आत्मा के चारित्रगुण की विपरीत अवस्था है। स्वभाव के भान की भूमिका में भी जब तक वीतरागता न हो, तब तक राग होता है परन्तु उसमें तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य राग तो अमुक जीव को ही होता है और तत्पश्चात् जब वह राग का अभाव करके, वीतरागता प्रगट करके सर्वज्ञ होता है, तभी उसे तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय आता है। उस समय इन्द्र आकर उन तीर्थङ्कर के दैविक समवसरण की रचना करते हैं। अभी भरतक्षेत्र में ऐसा समवसरण नहीं है परन्तु जब यहाँ महावीर परमात्मा विराजमान थे, तब समवसरण था और देव आकर भगवान की सेवा करते थे। अभी महाविदेहक्षेत्र में श्रीसीमन्धर परमात्मा तीर्थङ्कररूप में विराजमान हैं, उनके ऐसा समवसरण है। यहाँ तो उसकी स्थापना है।

देखो, समवसरण का स्वीकार करने से कितना स्वीकार करना आया ? कि —

● आत्मा है; वह एक ही नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ हैं।

● उसकी अवस्था में विकार है।

● उस विकार के निमित्त से कर्म बँधते हैं अर्थात् जगत में अजीवतत्त्व भी है।

● तीर्थङ्कर नामकर्म अमुक जीव को ही बँधता है, सबको नहीं अर्थात् जीवों के परिणामों की विचित्रता है।

● राग का अभाव होकर सर्वज्ञदशा प्रगट होती है और उस दशा में तीर्थङ्कर के समवसरण होता है।

● इस क्षेत्र (भरतक्षेत्र) के अतिरिक्त महाविदेहक्षेत्र आदि क्षेत्र भी हैं - यह सब स्वीकार करनेवाला समवसरण को मान सकता है।

जगत् में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वभाव है, वह त्रिकाल है और उसकी अवस्था प्रतिक्षण पलटती है। उस अवस्था में श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् होने पर भी, चारित्रगुण की अवस्था में आंशिक विपरीतता / विकारीपना भी रहता है। चारित्रगुण की विपरीतता से राग होता है। वह राग प्रत्येक जीव को एक समान नहीं होता; अपितु उसमें प्रत्येक आत्मा के तारतम्यता होती है। किसी को अमुक प्रकार का, तो किसी को अन्य प्रकार का राग आता है। यदि कोई जीव यह मानता है कि 'मुझे इसी प्रकार का राग करना है' तो वह जीव, राग का कर्ता अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

मैं ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ, राग का अंश भी मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जिसे आत्मा का भान तो हुआ हो परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई हो, उन जीवों में जो जीव, तीर्थङ्कर होनेयोग्य हो, उसे ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य परिणाम आते हैं और तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है।

देखो, अन्दर में रागरहित स्वभाव का भाव होने पर भी, पर्याय में चारित्र की कमजोरी से राग और उसमें भी जिसके फल में तीर्थङ्कर नामकर्म बँधे, उस जाति का राग; उस राग के निमित्त से तीर्थङ्करप्रकृतिरूप परिणमित होने की योग्यतावाले परमाणु और उनके फल में समवसरण की रचना, आत्मा की पूर्ण वीतरागदशा में भी समवसरण की विभूति का संयोग — यह सब माननेवाला ही यथार्थरूप से समवसरण का स्वीकार कर सकता है।

तीर्थङ्करप्रकृति किसको बँधती है ? जिसे राग का आदर न हो उसे; और उस प्रकृति का फल कब आता है ? जब उस राग का अभाव होकर वीतरागता प्रगट होती है, तब।

तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध तो निचलीदशा में धर्मी को होता है परन्तु उसका उदय तेरहवें गुणस्थान में ही आता है। जिस राग से तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है, उस राग का अभाव होने के बाद ही उसका उदय आता है — यह बात समझने योग्य है।

जिसे पुण्यसामग्री के भोग की इच्छा है, उसे पुण्यसामग्री की पूर्णता नहीं होती। यद्यपि तीर्थङ्कर का पुण्य सर्वोत्कृष्ट होता है परन्तु उसका फल साधकदशा में नहीं आता; राग का अभाव होकर केवलज्ञान होने पर ही उस तीर्थङ्करप्रकृति का फल आता

है परन्तु उस समय उस जीव को सामग्री भोगने का रागभाव नहीं होता।

पहले निचलीदशा में रागरहित पूर्णस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई, उस भूमिका में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हुआ और तत्पश्चात् अन्तर में पूर्ण स्वभाव की भावना भाते-भाते केवलज्ञान हुआ; वहाँ बाह्य में तीर्थङ्करप्रकृति का उदय आया और समवसरण की रचना हुई परन्तु उन केवलीभगवान को संयोग को भोगने का भाव नहीं रहा।

अहो! सौ इन्द्र आकर भक्तिपूर्वक तीर्थङ्कर के चरण कमलों की पूजा करते हैं और दैविक समवसरण की रचना करते हैं, फिर भी भगवान को राग नहीं है; भगवान तो निज स्वरूप के पूर्णानन्द के भोग में ही लीन हैं।

देखो! समवसरण को माननेवाले को आत्मा की ऐसी दशा की पहिचान करनी चाहिए। ऐसी पूर्णानन्दी वीतरागदशा में ही समवसरण का योग होता है; रागी जीव को समवसरण नहीं हो सकता।

इस प्रकार आत्मा के त्रिकाली स्वभाव का, राग का और संयोग का — इन सबका स्वीकार करनेवाले को राग अथवा संयोग की भावना नहीं होती, अपितु अपने स्वभाव की ही भावना होती है। यह सब स्वीकार किये बिना तीर्थङ्कर अथवा तीर्थङ्कर के समवसरण को यथार्थरूप से नहीं माना जा सकता है।

स्वभाव, राग और संयोग — यह तीनों एक साथ विद्यमान हैं, उसमें धर्मी की रुचि स्वभाव पर पड़ी है, उसे संयोग अथवा राग की रुचि नहीं होती।

समवसरण का संयोग आत्मा के लाने से नहीं आता, वह तो जगत के परमाणुओं का परिणमन है। जगत में जीव और जड़ - सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण स्वतन्त्ररूप से परिणमित हो रही हैं। उसमें अनादि से उस प्रकार की विशेष योग्यतावाले जीव को ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य शुभपरिणाम आते हैं और उसके उदय के समय बाहर में समवसरण की रचना के योग्य परमाणुओं का ऐसा परिणमन होता है। समकित्ती जीव को तो समवसरण के संयोग की अथवा जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, उस शुभभाव की भी भावना नहीं होती; उसे तो अपने असंयोगी चैतन्यतत्त्व की ही भावना है। मिथ्यादृष्टि जीव को संयोग और राग की भावना है, उसे कभी तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता है।

देखो तो सही, जगत के जीवों के परिणामों की विचित्रता! एक जीव के समवसरण की रचना होती है और दूसरे को नहीं — इसका कारण क्या? अनेक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, उनमें भी किसी को ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य शुभपरिणाम आते हैं और अन्य जीवों को वैसे परिणाम आते ही नहीं; इसी प्रकार किसी जीव को आहारकशरीर बँधनेयोग्य शुभभाव आता है और किसी अन्य जीव को मोक्ष प्राप्ति के काल तक भी उस प्रकार का परिणाम नहीं आता; किसी सम्यग्दृष्टि जीव को सर्वार्थसिद्धि का भव प्राप्त होनेयोग्य परिणाम होता है तो किसी सम्यग्दृष्टि जीव को पहले स्वर्ग का इन्द्रपद प्राप्त होनेयोग्य परिणाम होता है; कोई जीव चक्रवर्ती होकर, तत्पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है और कोई जीव साधारण मनुष्य होकर, तत्पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त

करता है — ऐसी संसार के जीवों के परिणामों की विचित्रता है और निमित्तरूप पुद्गल के परिणमन में भी वैसी ही विचित्रता है।

सभी जीव अनादि से हैं। द्रव्य और गुण से तो सभी जीव समान हैं, फिर भी परिणाम में भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं — इसका कारण क्या है? — इसका कारण कोई नहीं है; संसार में परिणामों की ऐसी ही विचित्रता है। धर्मी जीव, अपने त्रिकाल एकरूप स्वभाव की दृष्टिपूर्वक संसार की इस विचित्रता का विचार करता है।

बहुत से जीवों को तो अनादि-अनन्त काल में कभी तीर्थङ्करपने का भाव ही नहीं आता और केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और किसी जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य भाव आता है। यद्यपि मोक्ष तो दोनों जीव प्राप्त करते हैं परन्तु उनके परिणामों में विचित्रता है — इसका क्या कारण है? इसका कारण है, उस-उस पर्याय की वैसी ही योग्यता! यह एक 'योग्यतावाद' ऐसा है, जो कि समस्त प्रकारों में लागू पड़ता है अर्थात् समस्त प्रकारों का / प्रश्नों का समाधान कर देता है। यह निश्चित करने से 'ऐसा क्यों?' — यह प्रश्न ही ज्ञान में नहीं रहता।

देखो, यह संसार के स्वरूप की विचारणा! यह विचार कौन करता है? 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे स्वभाव में संसार नहीं है' — ऐसे भानपूर्वक धर्मीजीव, संसार के स्वरूप का विचार करता है। जिसे संसाररहित स्वभाव की दृष्टि प्रगट नहीं हुई है, उसे संसार के स्वरूप का यथार्थ विचार नहीं होता।

जिससे तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो, जिससे सर्वार्थसिद्धि का भव प्राप्त हो, जिससे आहारकशरीर प्राप्त हो और जिससे इन्द्रपद अथवा चक्रवर्तीपद प्राप्त हो — इस प्रकार के परिणाम सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं परन्तु उस सम्यग्दृष्टि को उनकी भावना नहीं होती और सभी सम्यग्दृष्टियों को उस प्रकार के परिणाम भी नहीं आते। जिसमें उस-उस जाति की योग्यता हो, उसे ही वैसे परिणाम होते हैं। किसी सम्यग्दृष्टि को भी अनादि-सान्त संसार में उस जाति के परिणाम कभी नहीं आते।

अरे! जिसने संसार में कभी स्वर्ग अथवा नरक का एक भी भव नहीं किया हो, अनादि निगोद (नित्य निगोद) में से निकलकर, मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर ले — ऐसे जीव भी जगत में होते हैं। देखो तो सही विचित्रता! कोई जीव तो अनन्त बार नरक या स्वर्ग का अवतार कर चुके और किसी जीव को अनादि-सान्त संसार में, स्वर्ग या नरक का भव हो, वैसे परिणाम ही नहीं आये। एक जीव तो तीर्थङ्कर होकर मोक्ष प्राप्त करता है और दूसरा जीव साधारण राजा भी नहीं होता; सामान्य मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। जीवों के उस-उस जाति के विकल्पों की विचित्रता है।

धर्मी को यह विचित्रता देखकर आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह मात्र विचित्रता को ही नहीं देखता; अपितु एकरूप स्वभाव की दृष्टि को मुख्य रखकर, पर्याय की विचित्रता का ज्ञान करता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ही संसार के समस्त पहलुओं का भान होता है; अतः उसे ही सच्ची संसारभावना होती है। अकेली

पर्यायबुद्धिवाले अज्ञानी जीव को संसारभावना नहीं होती। स्वभाव क्या है और संसार क्या है? इसका ही जिसे भान नहीं है, वह अज्ञानी तो पर्याय की विचित्रता को देखकर विस्मयता में अटक जाता है और ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव पर होने से उसे पर्याय की विचित्रता में विस्मयता नहीं होती, अपितु प्रतिक्षण वीतरागता बढ़ती है।

अज्ञानी को तो यथार्थ बारह भावनाएँ होती ही नहीं। जिसकी रुचि विचित्रता के परिणाम पर है और द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि नहीं है, उसे विचित्रता में राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते। संसारभावनावाले को पर्यायबुद्धि नहीं होती, अपितु चिदानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ही इस प्रकार के विचार की श्रेणी चलती है। धर्मी को पर्याय की विचित्रता का विस्मय नहीं होता।

संसार में अनादिकाल से किसी जीव ने तो तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय भव ही प्राप्त नहीं किया हो, वैसे भाव ही उसे नहीं आए हों और निगोद में से निकलकर, मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है तथा किसी जीव को एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तक के अनन्त भव हो गये हों, नौवें प्रैवेयक के तथा सातवें नरक के अनन्त भव हो गये हों — ऐसे परिणाम आते हैं।

देखो, यह संसार की विचित्रता! धर्मी जीव को स्व-पर की पर्याय की अनेक प्रकार की विचित्रता ख्याल में आने पर भी, उसमें विस्मयता नहीं लगती। 'ऐसा क्यों?' — यह प्रश्न ही उसे नहीं रहता। वह जानता है कि संसार में ऐसी ही विचित्रता होती है।

धर्मी को पर्यायबुद्धि नहीं है। जो पर्याय होनेवाली है, उसे बदला नहीं जा सकता — ऐसा जाननेवाले को द्रव्यबुद्धि हुए बिना नहीं रहती। पर्याय को स्वतन्त्र माननेवाले की दृष्टि द्रव्य पर होना चाहिए और द्रव्यदृष्टिवन्त की पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है।

जगत् में अनन्त जीव हैं, उनके द्रव्य-गुण समान होने पर भी पर्याय में विचित्रता है, क्योंकि पर्याय भी स्वतन्त्र होती है। 'इस काल में ऐसी ही पर्याय करूँ' — ऐसा माननेवाले को पर्याय की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है और द्रव्य-गुण की भी प्रतीति नहीं है।

जैन सिद्धान्त की किसी एक बात का भी यथार्थ स्वीकार होने पर अन्तरङ्ग में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। पुण्य, तीर्थङ्कर, समवसरण इत्यादि किसी एक बात का भी यथार्थ स्वीकार होने पर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती।

पर्याय में विचित्रता के काल में विचित्रता है। द्रव्य-गुण समान होने पर भी पर्याय के प्रकार में अन्तर क्यों? — ज्ञानी को ऐसा सन्देह अथवा विस्मयता नहीं होती। धर्मी जीव तो निज एकरूप स्वभाव पर दृष्टि रखकर, उस विचित्रता को जानता है।

देखो, जगत् में समवसरण अनादि से है। जब यहाँ भगवान महावीर परमात्मा विराजमान थे, तब यहाँ भी समवसरण था। अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, वहाँ समवसरण हैं, सन्त-मुनियों के झुण्ड हैं। वहाँ भगवान की वाणी में एक साथ बारह अङ्ग का रहस्य आता है, एक समय में सम्पूर्ण रहस्य उद्घाटित होते हैं और समझनेवाले अपनी योग्यतानुसार समझते हैं। अभी भी कहनेवाले के अभिप्राय में जितनी गम्भीरता होती है, उस अनुसार

ही सभी नहीं समझ लेते परन्तु सब अपने-अपने क्षयोपशम की योग्यतानुसार ही समझते हैं।

जगत् में अनन्त जीवों के द्रव्य-गुण एक समान हैं, पर्याय में विकार है। उसमें किसी जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है और उसके फल में समवसरण की रचना होती है। इन सबकी अस्ति स्वीकार करनेवाला ही समवसरण को मान सकता है।

देखों, कोई जीव आत्मा का भान करके, यथार्थ चारित्रदशा प्रगट करके मुनि होता है। वह हजारों वर्ष आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहने पर भी उसे तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता और किसी चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को भी तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जाता है। उस स्थिति में मुनि को यह शङ्का नहीं होती कि 'अरे! इस अविरत सम्यग्दृष्टि को तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो गया और मुझे चारित्रदशा होने पर भी तीर्थङ्कर नामकर्म क्यों नहीं बँधा? क्या मेरे चारित्र में कोई कमी है?' इस प्रकार शङ्का नहीं होने का कारण यह है कि मुनि को पता है कि मेरे चारित्र का फल बाहर में नहीं आता। चारित्र के फल में तो केवलज्ञान प्रगट होकर मोक्षदशा प्रगट होती है।

अरे! तीर्थङ्कर नामकर्म तो राग का फल है। आत्मा के चारित्र के फल में तो अन्दर में शान्ति आती है। क्या चारित्र से भी कर्मबन्ध होता है? चारित्र तो धर्म है, उससे बन्धन नहीं हो सकता और जिस भाव से बन्धन हो, उस भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता। सम्यग्दृष्टि को राग के फल में तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है किन्तु उस धर्मात्मा को उसकी भावना नहीं होती, वह ज्ञानी उस

राग को धर्म नहीं मानता। देखो, यह संसारभावना! यथार्थ तत्त्व के भान बिना बारह भावनाएँ यथार्थ नहीं होती।

जगत् में अनेक जीव हैं, वे द्रव्य-गुण से समान होने पर भी कोई तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधता है, कोई नहीं बाँधता। क्षायिकसम्यग्दर्शन होने पर भी किसी को तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बाँधता और क्षयोपशम सम्यग्दर्शनवाले को बाँध जाता है। इसका कारण? वह-वह पर्याय सत् है। 'उसमें ऐसा क्यों?' यह प्रश्न ही नहीं है। वस्तु का सत्स्वरूप है; द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय भी सत् है — ऐसे सत् की प्रतीति करे तो ऐसा क्यों? — यह प्रश्न ही नहीं रहता, अपितु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होकर वीतरागता प्रगट हो जाती है।

देखो, आज समवसरण का दिवस है और यह संसारभावना का वर्णन है। जगत् में विचित्रता है, प्रत्येक जीव के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं और उनके निमित्त से बाँधनेवाले कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। उनके फल में किसी को समवसरण होता है, किसी को नहीं होता। जिसे संसार की ऐसी विचित्रता जँचती है, उसे पर्याय की विचित्रता को देखकर सन्देह नहीं होता।

यहाँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ५५वीं गाथा चलती है। इसमें कहते हैं कि जगत् में अनेक प्रकार के विचित्र दुःख सहन करने पर भी जीव सद्धर्म में वृद्धि नहीं करता। धर्मी को तो सद्धर्म की बुद्धि है, उसे संयोग-वियोग देखकर, उनमें पर्यायबुद्धि नहीं होती। ऐसा क्यों? यह प्रश्न नहीं होता, क्योंकि पदार्थ सत् है; इसलिए उसकी पर्याय की योग्यता अनुसार ही संयोग-वियोग होता है। स्वभाव की

दृष्टिपूर्वक ऐसी भावना भाने से धर्मी को स्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है और सहज आनन्द बढ़ता जाता है; इसलिए यह भावना भव्य जीवों को आनन्द की जननी है।

इन भावनाओं की रचना, जिन वचन की भावना के लिए है; इसलिए यह भावनाएँ भाकर, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों जैसे हैं, वैसे समझकर, उनकी प्रतीति करता है; उसमें उसे वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और आनन्द का अंश प्रगट होता है। बारह भावनाएँ भानेवाले की योग्यता कितनी होती है? उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान होता है। सम्यग्दर्शन के बिना बारह भावनाएँ यथार्थ नहीं होती। जिन वचन से विरुद्ध कहनेवाले कोई भी देव-शास्त्र-गुरु को जो मानता है, उसे बारह भावनाएँ नहीं होती।

अहो! संसार में विचित्र संयोगों, विचित्र परिणामों का कारण क्या है? पर्याय का विचित्र स्वभाव ही उसका कारण है। मैं द्रव्य-गुण से त्रिकाल एकरूप हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टिपूर्वक धर्मी जीव, पर्याय की विचित्रता को जानता है। क्षण-क्षण का राग और संयोग स्वतन्त्र है और उस क्षण ध्रुवस्वभाव भी स्वतन्त्र है, इस प्रकार सबको जानकर, धर्मी जीव ध्रुवस्वभाव के सन्मुख होता है।

अहो! जगत् में जीव इस मनुष्यभव को पाकर क्षणिक राग और संयोग को ही देखते हैं परन्तु उनके चारित्रगुण की विपरितदशा होकर राग हुआ है। वे निज ध्रुव चिदानन्दस्वभाव का स्वीकार नहीं करते; इसलिए संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।

इस प्रकार धर्मी जीव, संसारभावना भाता है। यह भावना भानेवाले को अपने स्वभाव का भान है, उसकी पर्यायबुद्धि छूट गयी है। ●● (- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 55 पर प्रवचन)

उपादान विधि निर्वचन

प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप रहना है। आत्मा की इच्छा से हाथ का हलन-चलनरूप कार्य नहीं होता। छिपकली की पूँछ कट जाने पर वह कम्पित होती है, वह उन परमाणुओं के कारण है — ऐसा नहीं है कि वहाँ आत्मा के प्रदेश होने से वह कम्पित होती है तथा वहाँ जो आत्मा के प्रदेश कम्पित होते हैं, वे आत्मा के कारण ही होते हैं किन्तु पूँछ के परमाणुओं के कारण नहीं होते हैं क्योंकि दोनों का उत्पाद-व्यय स्वतन्त्र है; कोई एक-दूसरे के कारण नहीं हैं। आत्मा की पर्याय में जो दुःखभाव होता है, वह उसके अपने कारण है; किसी रोग आदि के कारण नहीं, क्योंकि रोग तो शरीर में है, आत्मा में नहीं; आत्मा उस रोग को अपने में मान लेता है, यही दुःख है।

जीव स्वयं ही चिन्ता अथवा कल्पना करता है। कोई आस-पास का संयोग उसे चिन्ता अथवा कल्पना नहीं कराता; इस प्रकार पर्याय स्वयं के कारण ही होती है — ऐसा जानें तो पर की ओर देखना नहीं रहे किन्तु निज द्रव्य की ओर देखना रहे। अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के लक्ष्मी, सम्मान आदि में वृद्धि देखने से स्वयं को जो ईर्ष्या अथवा मन में बेचैनी होती है, वह स्वयं के कारण ही होती है; वह दूसरा मनुष्य अपने से अधिक बढ़ गया, इस कारण

नहीं। यह जीव स्वयं व्यर्थ की कल्पनाएँ करता है, इससे दुःखी है।

जगत् के पदार्थों का उत्पाद-व्यय होता है, उसमें यह मूढ़ जीव घालमेल करके अपने ऊपर आकुलता ओढ़ लेता है। वास्तव में प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय, स्वतन्त्र उसके कारण होते हैं, कोई उसमें हेरफेर नहीं कर सकता — ऐसा जानने से अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की ओर झुकना रहा और इसी से शान्ति प्राप्त होती है, दूसरा कोई कार्य आत्मा में है ही नहीं।

देखो, यह लोकभावना का वर्णन है। ये बारह भावनाएँ सम्यग्दृष्टि को ही होती हैं, ये भावनाएँ भव्य जीवों को आनन्दजननी है। आत्मस्वभाव, ध्रुव नित्यानन्द है, उसके सन्मुख दृष्टि करने से जिसे शुद्धि प्रगट होती है। उस जीव को निमित्तबुद्धि उड़ गयी है, वर्तमान पुण्य-पाप की बुद्धि छूट गयी है और पर्याय के आश्रय से धर्म मानने की बुद्धि भी विलय हो गयी है; उसे तो त्रिकाल शुद्ध कारणपरमात्मा-कारणशुद्धजीव एकरूप नित्यानन्दस्वरूप का ही अवलम्बन वर्तता है। सम्यग्दर्शन के बाद कमजोरी से राग होता है परन्तु ज्ञानी को उसकी रुचि नहीं है। वह पर की अवस्था अपने आधीन नहीं मानता है। जो पर्याय क्रमबद्ध होने योग्य है, वही होती है — ऐसा मानता है। उसे तो 'मैं राग का अभाव करूँ' — ऐसी रुचि भी नहीं है क्योंकि राग तो एक समयमात्र का है, उसका अभाव करूँ — ऐसी इच्छा होती है परन्तु उससे लाभ माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है।

मैं इच्छा करके हाथ चला सकता हूँ — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि इच्छा चारित्रगुण की विपरीतपर्याय है, उसका

कार्यक्षेत्र जीवतत्त्व में है। पुद्गल की पर्याय का स्वामी जीव नहीं है। सम्यग्दृष्टि की भावना ज्ञायकस्वभाव की ओर जम गयी है। उसे स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की पर्याय विकसित हो गयी है। वह स्व-पर को स्वतन्त्र जानता है — ऐसे ज्ञानी को बारह भावनाएँ होती हैं। उसे भूमिकानुसार राग आता है किन्तु वह भावना नहीं है क्योंकि भावना तो संवर का भेद है और राग तो आस्रवतत्त्व है।

ज्ञानी जानता है कि —

1. निमित्त में से धर्म नहीं आता,
2. राग में से धर्म नहीं आता, और
3. पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती।

इसलिए इन तीनों की दृष्टि छूटकर जिसे ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुई है, उसे स्वभाव की सन्मुखता से बारह वैराग्य भावनाएँ यथार्थ होती हैं और प्रतिक्षण शुद्धता तथा आनन्द की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार ये बारह भावनाएँ भव्य जीवों के लिए आनन्द की जननी हैं।

यहाँ लोकभावना का वर्णन है, लोक में अनन्त पदार्थ स्वतन्त्र हैं, उनमें प्रतिक्षण पर्याय होती हैं, वह भी पर से निरपेक्ष है। प्रति समय की पर्याय भी अहेतुक सत् है। प्रत्येक पदार्थ एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। जीवादि वस्तुएँ उत्पाद-व्यय और ध्रुव — ऐसे तीन भावमय हैं। गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु सत् है, उसमें प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों भाव हैं। व्यय भी सर्वथा अभावरूप नहीं है, वह भी सत् है। जीव का उत्पाद-व्यय-ध्रुव जीव में, शरीर का उत्पाद-व्यय-ध्रुव शरीर में, आहार के परमाणुओं

का उत्पाद-व्यय-ध्रुव आहार में है तो फिर आहार के कारण जीव के परिणाम सुधरते अथवा बिगड़ते हैं, यह बात ही कहाँ रही? क्या आहार के कारण जीव का उत्पाद-व्यय है?

जिसे सहजस्वभाव का भान करके जितना राग का अभाव हुआ है, वहाँ बाहर में ही सदोष आहार इत्यादि नहीं होते परन्तु आत्मा उसका कर्ता अथवा छोड़नेवाला नहीं है। अज्ञानी तो आहारादि की कर्ताबुद्धि में ही अटक जाता है। मैं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव में वर्तता हूँ और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रुव पर में वर्तते हैं। मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव पर में नहीं वर्तते और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में मैं नहीं वर्तता। इस प्रकार स्व-पर वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनमें किसी के कारण किसी का उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं है। ऐसे भानपूर्वक स्वभाव के अवलम्बन से धर्मी जीव का राग घट जाता है, इसी का नाम भावना और संवर है।

जब आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में कर्म है ही नहीं तो कर्म आत्मा का क्या करेंगे? आत्मा के विकार में कर्म निमित्त है परन्तु कर्म आत्मा में प्रविष्ट होकर उसे विकार में परिणमित नहीं करते। 'कर्म ने विकार कराया' — यह कथन शैली तो मात्र निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है। वस्तुतः निमित्त का आत्मा में अत्यन्त अभाव है और शुद्धस्वभाव में तो क्षणिक विकार का भी अभाव है — ऐसे स्वभाव की दृष्टि करना ही धर्म है।

जीवद्रव्य का चेतनागुण है और उसका स्वभाव तथा विभावरूप परिणमन, वह पर्याय है। वह स्वभाव अथवा विभावपरिणाम किसी निमित्त के कारण नहीं होते हैं। कर्म का उदय, उपशम इत्यादि के

कारण जीव के परिणाम हुए — ऐसा नहीं हैं। जीव के परिणाम, जीव के कारण ही होते हैं — ऐसे भान में धर्मी को शुभ-अशुभपरिणाम के समय भी स्वभाव की दृष्टि कभी नहीं चूकती और राग की, व्यवहार की मुख्यता कभी नहीं होती है।

जीव का चेतनागुण है, उस चेतनागुण में विभाव नहीं होता। उसमें हीनता-अधिकता होती है परन्तु विभाव नहीं होता। चेतना के साथ अन्य आनन्द, श्रद्धा इत्यादि अनन्त गुण हैं, उनमें विभावरूप परिणमन होता है — इस अपेक्षा से यहाँ चेतना में स्वभावरूप और विभावरूप परिणमन कहा है। चेतना तो उपयोगरूप है परन्तु उसके साथ जो श्रद्धा-आनन्द इत्यादि गुण हैं, उन गुणों में स्वभाव और विभावरूप परिणमन होता है, वह स्वयं के कारण ही होता है।

आत्मा में अपने कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण — ऐसे छह कारकरूप होकर परिणमित होने का स्वभाव है; पर के कारण जीव में कुछ नहीं होता। अज्ञानी शोर मचाता है कि निद्धत और निकाचित कर्म बँधे हों तो क्या हो सकता है? परन्तु अरे भाई! तेरे स्वभाव के सन्मुख होकर पुरुषार्थ करने में कर्म तुझे रोकता नहीं है। तू स्वभाव का पुरुषार्थ करे तो कर्म उनके स्वयं के कारण नष्ट हो जाते हैं।

श्री धवला ग्रन्थ में आता है कि —

दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम् ।

शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥

अर्थात् जिनेन्द्रों के दर्शन से पाप संघातरूपी कुञ्जर के सौ टुकड़े हो जाते हैं; जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

(- भाग-6, पृष्ठ 428)

निश्चय से अपना स्वभाव चैतन्यबिम्ब है, इसके भानपूर्वक वीतरागी जिनबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को कभी स्पर्श नहीं करती। कर्म का उदय आत्मा को स्पर्श ही नहीं करता तो कर्म आत्मा का क्या करेंगे? वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने-अपने कारण होते हैं। समकिति को राग होता है, वह कोई चारित्रमोह कर्म के उदय के कारण नहीं हैं किन्तु अपनी ही पर्याय के कारण हैं। चारित्रमोह का उदय तो निमित्त है, उसका आत्मा में अभाव है।

उपादान का कथन एक ही प्रकार से है कि जैसी योग्यता हो, तदनुसार कार्य होता है। निमित्त के कथन में अनेक प्रकार हैं; इसीलिए कहा है कि —

उपादान विधि निर्वचन है, निमित्त उपदेश ।

निरपेक्ष आत्मस्वभाव के भान बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। आत्म-स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, उसमें स्व के ज्ञान बिना पर का ज्ञान नहीं होता। उपादान की स्वतन्त्रता के ज्ञान के बिना, निमित्त का ज्ञान नहीं होता। निश्चय के बिना, व्यवहार का ज्ञान नहीं होता। जैसे, त्रिकाली द्रव्य स्वतन्त्र निरपेक्ष है; उसी प्रकार उसकी प्रति समय की पर्याय भी निरपेक्ष/स्वतन्त्र है। प्रति समय होनेवाली पर्याय स्वयं के ही कारण होती है तो कौन किसे समझाये और कौन किसे रोके? भाषा भी भाषा के कारण परिणमित होती है और सामनेवाला जीव, उसकी योग्यता के कारण समझता है।

जिसे अपना कल्याण करना हो, वह जीव, निज आत्मस्वभाव की ऐसी भावना करता है।

अरे जीव! जैनदर्शन में तुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है या सम्प्रदाय चलाना है? शास्त्र की पण्डिताई से अथवा सम्प्रदाय की दृष्टि से कल्याण नहीं होता है। भाई! यह तो वस्तु के स्वभाव की बात है। वस्तु का स्वभाव समझकर स्व-सन्मुख होने से ही कल्याण होता है। वस्तुस्वभाव की समझ के बिना, अज्ञानी लोग बाहर से धर्म मानते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु में स्वभावरूप अथवा विभावरूप परिणमन अपने-अपने कारण ही होता है।

इसी प्रकार पुद्गल भी अपने स्वभाव-विभावपरिणामरूप परिणमित होता है। अँगुली का हलन-चलन, वह पुद्गल के कारण है; जीव के कारण नहीं। अँगुली का प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र, स्वयं से ही परिणमित होता है। गाड़ी का चलना, स्थिर होना — यह सब उसके स्वयं के कारण होता है। पेट्रोल के होने अथवा न होने के आधीन, मोटर की गमन अथवा स्थिति नहीं है। वास्तव में प्रत्येक पुद्गल अपने वर्तमान से ही वर्तता है।

कुन्दकुन्दाचार्य अथवा पूज्यपादस्वामी इत्यादि सभी आचार्यों का एक ही अभिप्राय है किन्तु लोगों को सन्धि मिलाना नहीं आती; इसलिए उनके कथनों में परस्पर विरोध भासित होता है, यह अपेक्षाज्ञान के अभाव को सूचित करता है।

प्रत्येक वस्तु, गुण-पर्यायस्वरूप है, वह अपने स्वभाव से ही प्रतिसमय पर्यायरूप परिणमित होती है। लोक में जीव और पुद्गल आदि सभी पदार्थ प्रतिसमय परिणमित होते हैं, उनके द्रव्य-गुण-

पर्याय की स्वतन्त्रता का सम्यग्दृष्टि जीव विचार करता है। पुद्गल स्कन्ध में विभावरूप परिणाम होते हैं, वे अपने परिणमन की योग्यता से होते हैं। वहाँ भी प्रत्येक परमाणु को परस्पर पर्याय में अन्योन्याभाव है तथा दो गुण अधिक परमाणु, बन्ध का कारण होता है, वहाँ भी प्रत्येक परमाणु की योग्यता से स्वतन्त्र बन्धपर्याय होती है। एक परमाणु दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं करता क्योंकि स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का अभाव है।

परमाणु सजातीय बन्धरूप परिणमित हों, विजातीय बन्धरूप परिणमित हों अथवा पृथक् रूप से परिणमित हो; वह अपने स्वयं के कारण है। एक समय की पर्याय परतन्त्र मानी जाए तो उसका त्रिकाली सामान्य भी स्वतन्त्र नहीं रहेगा और सामान्यगुण स्वतन्त्र नहीं तो अनन्त गुणों का आधार द्रव्य भी स्वतन्त्र नहीं रहेगा किन्तु कभी ऐसा होता नहीं है।

कोई कहता है कि यदि प्रबल निमित्त आ जाए तो आत्मा को विभावरूप परिणमित होना पड़ता है किन्तु यह बात मिथ्या है। वास्तव में जीव अपनी कमजोरी से पराश्रयरूप/विभावरूप परिणमित होता है; दूसरा कोई उसे परिणमित करानेवाला नहीं है। परिणमित होनेवाले को कौन परिणमन कराये और जो परिणमन के अयोग्य हो, उसे भी कौन परिणमित कराये?

निमित्त-नैमित्तिक में भी परस्पर भिन्नता है, स्वतन्त्रता है और जिसे ऐसी दृष्टि हुई है, वह भी स्व-पर को स्वतन्त्र देखता है। मिथ्यादृष्टि अपनी पराधीन दृष्टि में सबको संयोग से देखता है।

देखो, लकड़ी के ऊपर के परमाणु, नीचे के परमाणुओं के

आधार से नहीं रहते हैं, तथापि अन्योन्याधार कहना उपचार कथन है। वास्तव में प्रत्येक द्रव्य में कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण — ये छहों कारण स्वतन्त्र हैं।

निमित्त के आधार से अन्य वस्तु है — ऐसा देखनेवाला पराधीनदृष्टि से देखता है और इस प्रकार सर्वत्र परतन्त्रता देखनेवाला व्रतादि पालन करे, उस समय भी अधर्म करता है। भावलिङ्गी मुनि को कोई उपसर्ग आ जाए तो उस समय भी वे स्वरूप में लीन होकर शुक्लध्यानश्रेणी से परमसुख को भोगते हुए, मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं; उन्हें कभी भी संयोग का बल नहीं है। कथन भले ही उपचार से हो परन्तु कार्य तो एक प्रकार से अर्थात् अपने - अपने से ही होता है। जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से कार्य होने योग्य है, वह उसी प्रकार होता है; उसे कोई निमित्त अन्य प्रकार से परिणमित करा दे — ऐसा तीन काल में भी नहीं होता। निमित्त से कार्य होता हो तो नैमित्तिक भिन्न नहीं रहेगा। उपादान-उपादेय पर्यायरूप हो तो अन्य वस्तु को निमित्तरूप उपचार कारण कहा जाता है; निमित्त से कथन करना व्यवहार है।

भाई! सर्व प्रथम निश्चय का स्वीकार करके तत्पश्चात् संयोग का ज्ञान करना चाहिए। चौकी पर पुस्तक है, यह व्यवहार कथन है; मुख्य अनुपचार निश्चय का स्वीकार किये बिना उपचार का कथन मिथ्या है। संयोग से वस्तु को देखनेवाला असली स्वभाव को भूल जाता है।

भाई! सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है और उससहित चारित्र, वह धर्म है। शुद्धस्वभाव का निर्णय कारण है और सम्यग् अनुभूति कार्य है। ●● (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 237 पर प्रवचन)

ज्ञान की स्वाधीनता और निमित्त का अकिञ्चित्करण

श्री सर्वज्ञदेव को पूर्ण ज्ञान हो गया है और उनकी वाणी में भी प्रत्येक समय में पूर्ण रहस्य आता है परन्तु उपस्थित जीव अपने ज्ञान की योग्यता से जितना समझें, उतना उन्हें निमित्त कहा जाता है। कोई जीव, बारह अङ्ग समझे तो उसके लिए बारह अङ्गों के समझने में वह वाणी निमित्त कहलाती है; कोई जीव, करणानुयोग का ज्ञान करे तो उस समय उसे करणानुयोग के ज्ञान में वह वाणी निमित्त कही जाती है और उसी समय दूसरा जीव, द्रव्यानुयोग का ज्ञान करता हो तो उसको वह वाणी, द्रव्यानुयोग के ज्ञान में निमित्त कहलाती है, इसमें ज्ञान की स्वाधीनता सिद्ध होती है।

जो जीव अपने अन्तरस्वभाव के आधार से जितना श्रद्धा-ज्ञान का विकास करे, उतना ही दिव्यध्वनि में निमित्तपने का आरोप आता है; इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि ज्ञान और द्रव्यश्रुत पृथक् हैं। वाणी और शास्त्र तो अजीव हैं; अजीव के आधार से कभी ज्ञान नहीं होता। यदि वाणी का श्रवण करने के कारण ज्ञान होता हो तो अजीव वाणी, कर्ता बने और ज्ञान उसका कार्य सिद्ध हो, परन्तु अजीव का कार्य तो अजीव ही होता है, तब तो ज्ञान

स्वतः अजीव सिद्ध हुआ।

जो जीव, परवस्तु के आधार से अपना ज्ञान मानता है, उसका ज्ञान मिथ्या है; उसे यहाँ अचेतन कहा है। श्रुत के शब्द जड़ हैं, वे आत्मा के ज्ञान में अकिञ्चित्कर हैं; उस द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से आत्मा को किञ्चित् भी ज्ञान या धर्म नहीं होता है।

शास्त्र और वाणी तो जड़ हैं, वह तो ज्ञान ही नहीं है किन्तु मन्दकषाय को लेकर, मात्र शास्त्र के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान का विकास भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ द्रव्य-गुण-पर्याय, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, नव तत्त्व आदि सम्बन्धी ज्ञान का विकास, मात्र शास्त्रों के लक्ष्य से हो और स्वभाव का लक्ष्य न करे तो उस ज्ञान के विकास को भी द्रव्यश्रुत में गिनकर अचेतन कहा है। शास्त्र इत्यादि परद्रव्य और उनके लक्ष्य से होनेवाली मन्दकषाय तथा उसके लक्ष्य से कार्य करता हुआ वर्तमान जितना ज्ञान का विकास – उन सबका आश्रय छोड़कर, उनके साथ की एकता छोड़कर, त्रैकालिक आत्मस्वभाव का आश्रय करके, आत्मा में अभेद होनेवाला ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है।

प्रश्न – यदि वाणी से-श्रुत से ज्ञान नहीं होता तो फिर 'तीर्थङ्करों की-सन्तों की वाणी जयवन्त प्रवर्तमान रहे, श्रुत जयवन्त हो' – ऐसा किसलिए कहा जाता है ?

उत्तर – वाणी से ज्ञान नहीं होता, किन्तु स्वभाव के ओर की एकाग्रता से ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् जीव ऐसा जानता है कि पहले वाणी की ओर लक्ष्य था; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान होने में वाणी निमित्तरूप है। वास्तव में तो अपने आत्मा में जो

भेदज्ञान प्रगट हुआ है, वह भावश्रुत जयवन्त हो – ऐसी भावना है और शुभविकल्प के समय भेदज्ञान के निमित्तरूप वाणी में आरोप करके कहते हैं कि 'श्रुत जयवन्त हो, भगवान की और सन्तों की वाणी जयवन्त हो' परन्तु उस समय भी अन्तर में बराबर भान है कि वाणी इत्यादि परद्रव्य से अथवा उनकी ओर के लक्ष्य से मेरे आत्मा को किञ्चित् लाभ नहीं होता है।

आत्मा के ज्ञान में वाणी का अभाव है और वाणी में ज्ञान का अभाव है। यदि वाणी से ज्ञान होता हो तो वाणी, कर्ता और ज्ञान उसका कर्म, इस प्रकार एक दूसरे के कर्ता-कर्मपना हो जाता है; इसलिए वह मान्यता मिथ्या है। उसी प्रकार आत्मा में सच्चा समझनेरूप योग्यता हो, उस समय उस योग्यता के कारण वाणी निकलना ही चाहिए – यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान, कर्ता सिद्ध हो और अचेतन वाणी उसका कार्य सिद्ध हो।

श्री महावीर भगवान को केवलज्ञान हुआ, इन्द्रों ने समवसरण की रचना की, परन्तु छियासठ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। श्रावण कृष्ण एकम के दिन गौतमस्वामी आये और वाणी खिरी, परन्तु वहाँ गौतमस्वामी आये, इसलिए वाणी खिरी – ऐसा नहीं है और वाणी खिरना थी, इसलिए गौतमस्वामी आये – ऐसा भी नहीं है। वाणी और गौतमस्वामी – दोनों की क्रियाएँ स्वतन्त्र हैं। भगवान की वाणी छूटी, इसलिए गौतमस्वामी को ज्ञान हुआ – ऐसा भी वास्तव में नहीं है। वाणी अचेतन है, उससे ज्ञान नहीं होता और गौतमस्वामी आदि जीवों के ज्ञान में समझने की

योग्यता हुई, इसलिए भगवान की वाणी परिणमित हुई – ऐसा भी नहीं है।

अचेतन परमाणु को ऐसा पता नहीं है कि सम्मुख पात्र जीव आया है, इसलिए मैं परिणमित होऊँ तथा भगवान भी वाणी के कर्ता नहीं हैं; वाणी तो उसके अपने कारण से परिणमित होती है और जो जीव अपने आत्मस्वभाव को समझने की योग्यतावाला होता है, वही जीव अन्तरपुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव के सन्मुख होकर समझता है। उसका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से परिणमित होता है। अपने स्वभाव के सम्मुख होकर जानना-देखना और आनन्द का अनुभव करना, वह आत्मा का स्वरूप है; परसन्मुख होकर जाने – ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है।

आत्मस्वभाव में सम्पूर्ण स्थिर होने से महावीर भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ घातिकर्मों का स्वयं परमाणु की योग्यता से नाश हुआ। भगवान के अभी चार अघातिकर्म संयोगरूप थे और आत्मा में योग का कम्पन था, उसके निमित्त से दिव्यध्वनि खिरती थी। वहाँ केवलज्ञान या कम्पन के कारण वाणी परिणमित नहीं होती, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान और कम्पन तो निरन्तर है, यदि उसके कारण से वाणी परिणमित होती हो तो वह निरन्तर होना चाहिए, किन्तु वाणी तो अमुक समय ही होती है क्योंकि उसका परिणमन स्वतन्त्र है। पुनश्च; दिव्यध्वनि खिरना है, इसलिए भगवान के योग का कम्पन है – ऐसा भी नहीं है। कम्पन तो जीव के योगगुण की अशुद्धदशा है और वाणी तो जड़ की दशा है; दोनों अपने-अपने कारण से स्वतन्त्र होते हैं।

भगवान को केवलज्ञान और कम्पन है, इसलिए वाणी खिरती है – ऐसा नहीं है। वाणी खिरती है, इसलिए केवलज्ञान और कम्पन है – ऐसा भी नहीं है। कम्पन के कारण केवलज्ञान स्थिर नहीं रहता और न केवलज्ञान के कारण कम्पन, किन्तु केवलज्ञान, वाणी और कम्पन – तीनों स्वतन्त्र हैं।

अब, भगवान की वाणी छूटती है, उस वाणी के कारण दूसरे जीवों को ज्ञान नहीं होता। दूसरे जीवों को ज्ञान होना है, इसलिए वाणी खिरती है – ऐसा भी नहीं है। भगवान महावीर की वाणी खिरी, तब वह परमाणुओं की योग्यता से खिरी है और गौतमस्वामी को जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह उनके आत्मा की योग्यता से हुआ है; वे दोनों कार्य एक ही समय में हुए, इस कारण वे कहीं एक-दूसरे के कर्ता नहीं हैं। वाणीरूप पर्याय में पुद्गलपरमाणु व्याप्त हैं; इसलिए वाणी उन पुद्गलों का कार्य है। गौतम प्रभु, वाणी पर्याय में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं। उसी प्रकार गौतमस्वामी की ज्ञानपर्याय में उनका आत्मा ही प्रविष्ट हुआ है, कहीं वाणी उस ज्ञान में प्रवेश नहीं कर गयी है; इसलिए वाणी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है और गौतमस्वामी के कारण भगवान की वाणी नहीं हुई है।

इस जगत में अनन्त पदार्थों के भिन्न-भिन्न कार्य एक समय में एक साथ होते हैं, उससे कोई पदार्थ किन्हीं अन्य पदार्थों का कर्ता नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करे – ऐसा वस्तुस्वभाव ही नहीं है।

द्रव्यश्रुत; अर्थात्, भगवान की वाणी, अचेतन है, उसके लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है; वाणी के लक्ष्य से धर्म की उत्पत्ति नहीं

होती, किन्तु आस्रव की उत्पत्ति होती है। वाणी के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो ज्ञान, ज्ञानस्वभाव के साथ अभेद होकर परिणमित हो, वह आत्मस्वभाव है। भगवान की वाणी के लक्ष्य से पुण्यभाव होता है, वह भी अचेतन है; वह धर्म का या सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है।

आत्मा स्वयं चेतन है, उसका अवलम्बन छोड़कर यदि अचेतन वाणी के अवलम्बनरूप परिणमित हो तो वह आस्रवभाव है; उस समय जो शुभभाव होता है, उससे चारों घातिकर्म भी बँधते हैं और घातिकर्म पापरूप ही हैं, इस प्रकार द्रव्यश्रुत के लक्ष्य से पुण्य-पापरूप आस्रव होता है; इसलिए जड़ के आश्रय से जो ज्ञान होता है, वह भी अचेतन है क्योंकि वह ज्ञान, चैतन्य के विकास को रोकनेवाला है। चेतनरूप ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव की उत्पत्ति होकर आस्रव का नाश होता है। ऐसा जो जीव जानता है, वह अपने ज्ञानस्वभाव के स्वामित्वरूप ही परिणमित होता है; अपने को अचेतन वस्तु का कर्ता या स्वामी नहीं मानता और अचेतन के आश्रय से होनेवाले ज्ञान जितना भी अपने को नहीं मानता।

जो रुपये की थैली में हाथ डालेगा, उसे रुपये मिलेंगे और जो चिरायते के थैले में हाथ डालेगा, उसे चिरायता मिलेगा। इस दृष्टान्त से इतना समझना कि जो अचेतन वाणी की रुचि और विश्वास करनेवाले की वर्तमान दशा में रागादि और अज्ञान की ही प्राप्ति होगी और ज्ञानादि अनन्त गुणों के भण्डाररूप अपने स्वभाव की रुचि और विश्वास करनेवाले को अपनी पर्याय में भी सम्यग्ज्ञान

और शान्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए जिसे अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन, शान्ति, सुख आदि प्रगट करना हो, उसे कहीं बाह्य में न देखकर अनन्त गुण स्वरूप अपने आत्मस्वभाव में देखना चाहिए। आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि प्रगट होते हैं और उसके अतिरिक्त वाणी-शास्त्रादि बाह्य वस्तुओं के लक्ष्य से चिरायते जैसे आस्रव और बन्धभाव होते हैं।

आत्मस्वभाव के समझने में, समझने से पूर्व और समझने पश्चात् भी सत्श्रुत निमित्तरूप होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं है किन्तु यदि निमित्तों का आश्रय छोड़कर, अपने स्वभाव का आश्रय करे, तभी जीव को सम्यग्दर्शन होता है और इस प्रकार स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञान प्रगट करने पर ही श्रुत को उसका यथार्थ निमित्त कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुत के ज्ञान को व्यवहारज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ निमित्त का-व्यवहार का आश्रय छोड़कर, स्वभाव का आश्रय करना ही प्रयोजन है, वही धर्म का मार्ग है।

प्रश्न - यदि श्रुत / शास्त्र, ज्ञान का कारण नहीं हैं, तो ज्ञानी दिन भर समयसार-प्रवचनसार आदि शास्त्र हाथों में लेकर क्यों पढ़ते हैं ?

उत्तर - प्रथम तो यह समझो कि आत्मा क्या है ? ज्ञान क्या है ? शास्त्र क्या है और हाथ क्या है ? हाथ और शास्त्र, दोनों तो अचेतन हैं, आत्मा से पृथक् हैं; उनकी क्रिया तो कोई आत्मा करता नहीं है। ज्ञानी को स्वाध्यायादि का विकल्प हुआ और उस समय ज्ञान में उस प्रकार के ज्ञेयों को ही जानने की योग्यता थी, इससे ज्ञान होता है तथा उस समय निमित्तरूप समयसारादि शास्त्र उनके अपने

कारण से स्वतः होते हैं; वहाँ ज्ञानी ने तो आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान ही किया है; हाथ की, शास्त्र की अथवा राग की क्रिया भी उसने नहीं की है। शास्त्र के कारण ज्ञान नहीं होता और जीव के विकल्प के कारण शास्त्र नहीं आया।

भाई! ज्ञान का कारण तो अपना ज्ञानस्वभाव होता है या अचेतन वस्तु? जिसे अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं है और अचेतन श्रुत के कारण अपना ज्ञान मानता है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। यह भगवान आत्मा स्वतः ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञ वीतराग देव की साक्षात् वाणी, ज्ञान का असाधारण; अर्थात्, सर्वोत्कृष्ट निमित्त है, वह अचेतन है; उसके आश्रय से-कारण से भी आत्मा को किञ्चित् ज्ञान नहीं होता तो फिर अन्य निमित्तों की तो बात ही क्या है?

कोई यह कहे कि पहले तो वाणी इत्यादि निमित्तों के लक्ष्य से ही आत्मा आगे बढ़ता है न? तो उससे कहते हैं कि भाई! वाणी के लक्ष्य से अधिक होगा तो पापभाव दूर होकर पुण्यभाव होंगे, किन्तु वह कहीं आगे बढ़ा नहीं कहलायेगा, क्योंकि शुभभावों तक तो जीव अनन्त बार आ चुका है। शुभ-अशुभ से आत्मा का भेदज्ञान करके स्वभाव में आये, तभी आगे बढ़ा कहलायेगा। निमित्त के लक्ष्य से कभी भी भेदज्ञान नहीं होता; अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करे, तभी आगे बढ़े और भेदज्ञान प्रगट होकर पूर्णता हो।

प्रश्न - यदि आत्मा में ही पूर्ण ज्ञान सामर्थ्य भरा है और वाणी से ज्ञान नहीं होता तो यह सब जिज्ञासु यहाँ सुनने क्यों आते हैं? ज्ञान स्वयं में भरा हुआ है, उसमें से क्यों नहीं निकालते?

उत्तर - यहाँ सुनने आते हैं, इसका क्या अर्थ? उसमें आत्मा

क्या करता है? जड़ शरीर को आत्मा कहीं उठा नहीं लाया है, शरीर का क्षेत्रान्तर उसके कारण से हुआ है और आत्मा का क्षेत्रान्तर आत्मा के कारण हुआ है। जिज्ञासु जीवों को सत्श्रवण की इच्छा होती है, वह शुभराग है, उस राग से या सुनने से ज्ञान नहीं होता; उसी प्रकार सत्श्रवण की इच्छा हुई, इसलिए आत्मा का क्षेत्रान्तर हुआ - ऐसा भी नहीं है क्योंकि इच्छा, चारित्र का विकार है और क्षेत्रान्तर, क्रियावतीशक्ति की अवस्था है - दोनों पृथक्-पृथक् गुणों के कार्य हैं। जब एक गुण की पर्याय, दूसरे में कुछ नहीं करती तो फिर आत्मा परवस्तु में क्या करेगा? श्रवण के समय भी शब्दों के कारण ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान की उस समय की पर्याय की वैसी ही योग्यता है। इससे उस समय वैसे ही निमित्तरूप शब्द सामने स्वतः होते हैं, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है परन्तु वैसा नहीं है। आत्मा की प्रतीति तो अन्तरस्वभाव के आश्रयरूप पुरुषार्थ से ही होती है।

जिज्ञासु जीवों को कुगुरु का सङ्ग छोड़कर, सत्पुरुष की वाणी श्रवण करने का भाव आता है किन्तु 'मेरा ज्ञान, वाणी के कारण नहीं है, वाणी के लक्ष्य से भी मेरा ज्ञान नहीं है; अन्तरङ्ग ज्ञानस्वभाव में से ही मेरा ज्ञान आता है' - ऐसा निश्चित् करके यदि स्वभाव की ओर उन्मुख हो, तभी सम्यग्ज्ञान होता है; वाणी के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सत् का श्रवण करनेवाले जीव का ज्ञान स्वतन्त्र है, इच्छा स्वतन्त्र है, क्षेत्रान्तर स्वतन्त्र है, शरीर की क्रिया स्वतन्त्र है और सामनेवाले की वाणी भी स्वतन्त्र है। ●●

(-आत्मधर्म, हिन्दी, वर्ष-5, अङ्क-5, पृष्ठ 177-186)
(समयसार, गाथा 390 से 404 के प्रवचन का अंश)

परिशिष्ट-लेख

प्रत्येक समय का स्वतन्त्र उपादान

वस्तु का स्वभाव, उत्पाद-व्ययरूप होने से उसमें प्रति समय नवीन-नवीन कार्य होते ही रहते हैं। पहले समय की पर्याय में न हो - ऐसा कार्य दूसरे समय की पर्याय में प्रगट होता है। किसी के पहले समय मिथ्यात्वदशा हो और दूसरे समय सम्यक्त्वदशा प्रगट होती है। वहाँ जिसकी दृष्टि वस्तुस्वभाव पर नहीं है किन्तु संयोग पर है - ऐसा अज्ञानी जीव यह मानता है कि 'अमुक निमित्त आया; इसलिए यह कार्य हुआ। सद्गुरु आदि निमित्त मिले; इसलिए सम्यक्त्व हुआ। यदि अपने आप ही कार्य होता हो तो पहले क्यों नहीं हुआ?' वस्तुतः यह अज्ञानियों का महान् भ्रम है और यह भ्रम ही उपादान-निमित्त सम्बन्धी भूल का मूल कारण है। इस भ्रम के कारण ही; अर्थात्, स्वाभावदृष्टि से च्युत होकर संयोगदृष्टि के ही कारण ही जीव, अनादि काल से संसारसमुद्र में गोते खा रहा है। यहाँ वस्तु का यथार्थ स्वरूप, उसकी प्रत्येक पर्याय की सम्पूर्ण स्वाधीनता और परपदार्थों से बिलकुल उदासीनता बतलाकर, यह 'मूल में भूल' ग्रन्थ, अज्ञानियों के उस महान् भ्रम का खण्डन करता है।

चेतन या जड़ समस्त वस्तुएँ, प्रत्येक समय अपने परिणमन - स्वभाव से ही नवीन-नवीन परिणामरूप उत्पन्न होती हैं। पूर्व समय में अमुक दशा नहीं होती और पश्चात् होती है, वहाँ उस समय की पर्याय की वैसी ही योग्यता होने से होती है। दो जीवों में से एक को सम्यक्त्व

है और दूसरे के मिथ्यात्वदशा है, उसका क्या कारण है? दोनों जीवों के द्रव्य और गुण तो समान हैं, दोनों के पूर्व पर्याय का तो वर्तमान में अभाव है और अनादि से परिणमन करते-करते दोनों वर्तमान काल तक आये हैं, तथापि एक के सम्यक्त्वरूप परिणमन और दूसरे के मिथ्यात्वरूप परिणमन का क्या कारण है? कारण यही कि दोनों द्रव्यों के परिणमन की उस समय की योग्यता ही वैसी है।

इस बात पर मुख्य ध्यान रखना कि 'कार्य होने की योग्यता त्रिकालरूप नहीं, किन्तु वर्तमानरूप है; इसलिए द्रव्य की जिस समय, जिस कार्यरूप परिणमित होने की योग्यता हो, उसी समय, वह द्रव्य, उस कार्यरूप परिणमित होता है किन्तु उससे आगे या पीछे वह कार्य नहीं होता।' एक जीव को पहले मिथ्यात्वदशा थी, उस समय उसकी वैसी ही परिणमन की योग्यता थी, उसी से वह मिथ्यात्वदशा थी, न कि कुदेवादि के कारण से और पश्चात् उस जीव की सम्यक्त्वदशा हुई, उस समय वह जीव अपने उस समय के परिणमन की योग्यता से ही उसरूप परिणमित हुआ है, न कि सद्गुरु इत्यादि के कारण से।

इसी प्रकार प्रत्येक परमाणु भी अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही परिणमित हो रहा है। एक समय दो परमाणु लाल रङ्गरूप परिणमित हों और दूसरे समय उसमें से एक परमाणु काले रङ्गरूप तथा दूसरा सफेद रङ्गरूप परिणमित होता है। दोनों के द्रव्य-गुण तो समान हैं, पूर्व पर्याय भी दोनों की समान थी और अनादि से परिणमित होते-होते दोनों वर्तमान काल तक आये हैं, तथापि परिणाम में अन्तर पड़ता है क्योंकि उन-उन परमाणुओं के परिणमन की उस समय की योग्यता स्वतन्त्र है।

वस्तु की ऐसी ही स्वाधीनता है और ऐसे ज्ञान में ही स्वभाव का पुरुषार्थ है। जैसे, त्रिकाली द्रव्य सत् है, उसका कोई कर्ता नहीं है और न उसे किसी की अपेक्षा है; वैसी ही उसके अनादि-अनन्त समय में प्रत्येक समय की पर्याय अपनी स्वतन्त्र योग्यता रखती है, इसी का नाम उपादान

है। द्रव्य-गुण की स्थिति सदा एक समान होती है परन्तु पर्यायें सदा एक समान नहीं होतीं।

त्रैकालिक द्रव्य को और उसकी पर्याय के प्रत्येक समय के स्वतन्त्र कार्य को जानना, वह उपादान का ज्ञान है और उस समय संयोगरूप अन्य द्रव्यों का ज्ञान करना, वह निमित्त का ज्ञान है। इन दोनों को स्वतन्त्र जानने पर ही दो पदार्थों में एकत्वबुद्धि दूर होकर सम्यग्ज्ञान होता है परन्तु 'इस निमित्त पदार्थ के कारण उपादान का कार्य हुआ अथवा निमित्त आया, इसलिए कार्य हुआ; निमित्त ने कुछ प्रभाव डाला, सहायता की, प्रेरणा दी' - इस प्रकार का कोई भी सम्बन्ध मानना, वह उपादान-निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं, अपितु मिथ्याज्ञान है।

जो जीव, सूक्ष्म तत्त्वदृष्टि के अभाव के कारण स्वभाव से प्रत्येक पदार्थ की स्वाधीनता और एक के पश्चात् एक दशारूप होने की उसकी स्वतन्त्र योग्यता को नहीं जानते, वे एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने की; अर्थात्, वस्तु की पराधीनता की मिथ्याकल्पना किये बिना नहीं रह सकते और ऐसी जो वस्तुस्वरूप से विपरीत कल्पना है, वही महान अधर्म है। ●●

[- लेखक - रामजीभाई माणिकचन्द दोशी, आत्मधर्म, (हिन्दी),
वर्ष-5, अङ्क-6, पृष्ठ 207-209]

